पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 21
मार्च-अप्रैल 2009

संपादक
भारत भारद्वाज

समन्वयक
राकेश श्रीमाल

प्रकाशक
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, पंचटीला,
वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व
E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय
और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1,
वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032
यह अंक : 10 रु.
वार्षिक सदस्यता : 60 रु.
वर्धा से बाहर चेक के लिए वार्षिक 85 रु. और
द्वैवार्षिक 145 रु./- मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

संपादकीय संपर्क
11/A-I, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेन्ट्स
मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
टेली-011-42151470
मो.-09313034049
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews
in Hindi
Published by Mahatma Gandhi
Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post Manas Mandir, Panchtila,
Wardha-442001 (Maharashtra)

अनुक्रम

सम्पादकीय	: **आलोचना साहित्य का विवेक है**	३
मैं और पुस्तकें	: **चेखव की 'शर्त' कहानी से संस्कारित** / हृदयेश	५
उपन्यास	: जीरो रोड / **नासिरा शर्मा** **'जीरो रोड' अनिश्चय की ओर जाती सड़क** / मेहरबान राठौर	८
कहानी	: रहोगी तुम वही / **सुधा अरोड़ा** **पीड़ित के पक्ष की कहानियाँ** / त्रिभुवन राय	११
कहानी	: सनातन बाबू का दाम्पत्य / **कुणाल सिंह** **भागते हुए दिन में आदिग्राम उपाख्यान** / प्रेमशंकर सिंह	१४
कविता	: नहीं / **पंकज सिंह** **कविता की अद्वितीय राह** / ओम निश्चल	१७
कविता	: याज्ञवल्क्य से बहस / **सुमन केशरी** **पुरुष-सत्ता से सार्थक प्रतिवाद** / अतुल कुमार तिवारी	१९
विरासत	: **भारत भूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र** / शिवनंदन सहाय	२१
राजनीति-संस्कृति	: बहुधा और 9/11 के बाद की दुनिया / **बाल्मीकि प्रसाद सिंह** **बहुधा : विविधा या दुविधा** / सुभाष शर्मा	२९
स्मरण	: मदनगोपाल : प्रेमचंद के खोजी विशेषज्ञ और जीवनीकार/ **कमलकिशोर गोयनका**	३२
मीडिया	: राजनीति मेरी जान, डिजास्टर : मीडिया एंड पॉलिटिक्स / **पुण्यप्रसून वाजपेयी** **लोकतंत्र का मर्सिया** / श्याम कश्यप	३६
देशान्तर	: ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज / **मो. हनीफ** **पाकिस्तानी राजनीति की विस्फोटक सच्चाइयाँ** / प्रभात रंजन	३९
समय-जुलाहा	: **जिए तो मसीहा : मरे तो मसीहा** / कुबेर दत्त	४२
नेपथ्य	: **धीरे-धीरे चेखव** / गोपाल प्रधान	४६
साहित्य-कोलाहल	: **वरिष्ठ लेखक : शतायु की कामना** / प्रज्ञाचक्षु	४९
आगमन	: **टूटते सपनों की दास्तां** / अनंत विजय	५२
फिल्म-वार्ता	: **फिल्म संगीत की वह सुहानी ऋतु** / मुकेश कुमार	५४

आलोचना साहित्य का विवेक है

आलोचना साहित्य का विवेक है और इस विवेक का अहसास हमें सभ्य होते हुए ही हुआ होगा जबसे अच्छे-बुरे के फर्क की समझ हममें आई। भारतेन्दु युग में जब 'हिन्दी नई चाल में ढली'-एक युगांतरकारी परिवर्तन हुआ। प्रचलित काव्य-भाषा ब्रजभाषा की जगह न केवल खड़ी बोली कविता का उद्‌भव हुआ, बल्कि गद्य की अन्य विधाओं-उपन्यास, नाटक, संस्मरण और समीक्षा का भी। समीक्षा का आरंभ पुस्तक परिचय से हुआ। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षाएँ निकला करती थीं। ये पुस्तक-समीक्षाएँ प्रायः संक्षिप्त होती थीं। इस दृष्टि से इन्हें पुस्तक-परिचय कहना ज्यादा ठीक होगा।

भारतेन्दु-युग में समीक्षा का सूत्रपात करनेवाले संपादकों में 'आनंद कादम्बिनी' के संपादक उपाध्याय पं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', 'ब्राह्मण' के संपादक पं. प्रतापनारायण मिश्र और 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक पं. बालकृष्ण भट्‌ट का हमें ऋणी होना पड़ेगा। भट्‌ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' (जुलाई, 1981) में 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकाश है' शीर्षक से एक लेख लिखा था जिससे हिन्दी आलोचना का विकास हुआ।''यह संयोगमात्र नहीं है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य के संबंध में भट्‌टजी के विचारों की पुष्टि करते हुए ही अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का आरंभ करते हैं। वे कहते हैं : ''जब प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।''

द्विवेदी युग में 'सरस्वती' के संपादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पत्रिका में आचार्य शुक्ल का लेख 'कविता क्या है?' प्रकाशित किया और उसी युग में पं. मुकुटधर पांडेय ने जबलपुर से प्रकाशित 'श्रीशारदा' में छायावाद पर 1920 में लेखमाला लिखी, जो बाद में 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई। वैसे गंभीर आलोचना की शुरुआत पं. चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' के संपादन में 1900 ई. के आसपास प्रकाशित पत्रिका 'समालोचक' से हुई। 'पंत और पल्लव' इसी की अगली कड़ी है। यद्यपि 1929 ई. में शुक्लजी का 'इतिहास' निकल चुका था। लेकिन विधिवत रूप से प्रेमचंद पर पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'प्रेमचंद की

उपन्यास कला' (पं. जनार्दन प्रसाद झा द्विज–वाणी मंदिर, छपरा, प्रथम संस्करण दिसम्बर, 1933) से आलोचना आगे बढ़ी। डॉ. नगेंद्र की आलोचना पुस्तक पंत पर इसके बाद आई। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'प्रेमचंद' पर 1941 में लिखा और 'निराला' पर उनकी पहली पुस्तक 1946 में निकली।

छायावादोत्तर काल में आलोचना गहराने लगी। डॉ. देवराज की पुस्तक 'छायावाद का पतन' के बाद स्वातंत्र्योत्तर भारत में छठा दशक आलोचना का एक बड़ा प्रस्थान बिन्दु है। अक्टूबर 1951 में राजकमल प्रकाशन, 1, फैज बाजार, दिल्ली से शिवदान सिंह चौहान के संपादन में 'आलोचना' त्रैमासिक का प्रवेशांक निकला। जिसका संपादकीय था–आलोचना क्यों? इसी दशक में आलोचना में गर्माहट पैदा हुई। प्रगतिशील लेखक संघ के बरक्स खड़ी परिमल संस्था ने गुटबंदी शुरू की। शीतयुद्ध की तरह लेखक बिरादरी बँटने लगी। 'नई कविता' का प्रकाशन शुरू हुआ। वैचारिक मतभेद हुए। 1958 में डॉ. रामविलास शर्मा के प्रधान संपादकत्व में हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक पत्र 'समालोचक' का प्रकाशन आगरा से शुरू हुआ। इस पत्रिका ने फरवरी 1959 में 'यथार्थवाद विशेषांक' निकाला। पत्रिका इसी वर्ष बंद हो गई। इसी के आसपास प्रकाशित 'कवि' (वाराणसी) और 'कृति' ने आलोचना को एक नई धार दी। संपादक बदलते 'आलोचना' लेफ्ट–राइट करती निकलती रही। लेकिन सातवें दशक में आलोचना के संसार में भूचाल हुआ। वैसे व्यावसायिक पत्रिकाएँ 'धर्मयुग', 'सारिका', 'नई कहानियाँ', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में भी वरिष्ठ आलोचकों की रचनाएँ छपती रहीं। जैसे 'नई कहानियाँ' (सं. भैरवप्रसाद गुप्त) में 'हाशिए पर' कहानी के बारे में नामवर जी की टिप्पणी या फिर 'धर्मयुग' में डॉ. रामविलास शर्मा के लेख (जो बाद में उनकी पुस्तक 'नई कविता और अस्तित्ववाद' के रूप में संकलित हुए)।

आलोचना की गंभीरता सातवें दशक में महसूस की गई जब डॉ. नामवर सिंह 'आलोचना' के संपादक हुए 1967 में। जुलाई 1967 में प्रकाशित 'समीक्षा', बिहार से ही प्रकाशित 'ध्वजभंग' पत्रिका से इसे बल मिला। इसी प्रकार प्रताप विद्यालंकार के संपादन में 'प्रकर' जैसी विशुद्ध समीक्षा की पत्रिका भी निकली। अशोक वाजपेयी ने 1974 में 'पूर्वग्रह' निकालकर आलोचना में एक भारी हस्तक्षेप किया। अन्य पत्र–पत्रिकाओं ने भी आलोचना–समीक्षा को महत्व दिया।

शताब्दी के अंत में 'कसौटी' निकली और 15वां अंक 'बीसवीं शती की कालजयी कृतियाँ' पर केन्द्रित करके इसे बंद कर दिया गया। आलोचना/समीक्षा को समृद्ध करने में जिन अन्य पत्रिकाओं ने एक बड़ी भूमिका निभाई है उनमें 'पहल', वसुधा, वागर्थ, ज्ञानोदय, तद्भव, धरातल, सापेक्ष, कथन, नया पथ, कथा, सृजन–संदर्भ जैसी पत्रिकाओं की भी बड़ी भूमिका है। हमें मालूम है कि आलोचक न साहित्य का दारोगा होता है और न 'जज'। वह किसी कृति पर फैसला नहीं देता है, कृति से गुजरते अंधेरे पक्ष को आलोकित करता है।

'पुस्तक वार्ता' के इस अंक में स्मरण के अंतर्गत स्व. मदन गोपाल पर, और 'विरासत' में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र पर शिवनंदन सहाय द्वारा लिखित जीवन के अंश दिए गए हैं। 'नेपथ्य' एक नया स्तंभ शुरू किया जा रहा है जिसमें किसी पुस्तक लिखने की प्रेरणा या किसी पुस्तक के अनुवाद के अनुभव होंगे। इस बीच दिवंगत लेखकों–काव्यशास्त्र के आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, कवि–गीतकार नईम और 'आवारा मसीहा' के लेखक विष्णु प्रभाकर के प्रति हम हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

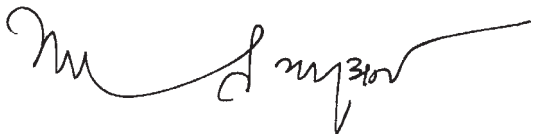

pos[kkoh^'kkZ* dgkuh ls laLdkfjr

हृदयेश

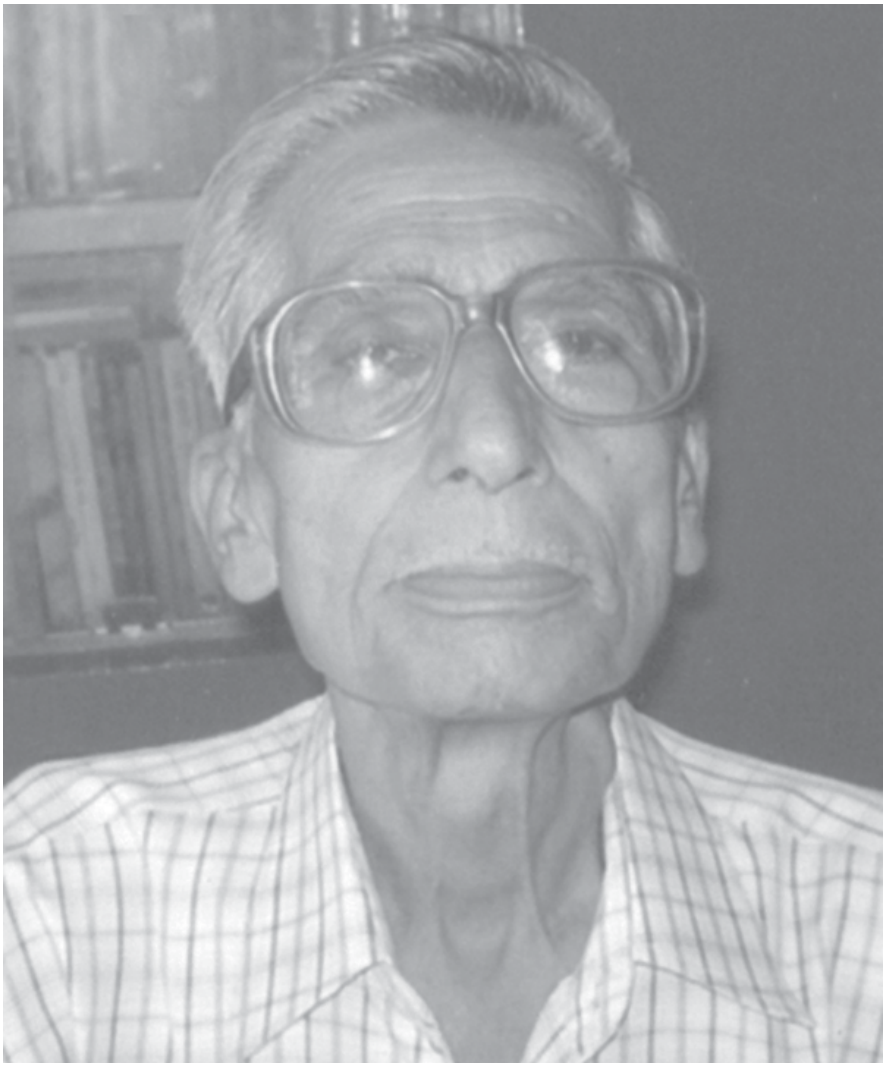

हृदयेश

पुस्तकों से 'हाँ' मेरा रिश्ता है और है सामान्य से भिन्न ही। रिश्ता यह तब से बनना शुरू हुआ जब से मेरे जीवन में पेट-पालन के आम पिटे-पिटाए रास्ते के अलावा कलम से रचने-रचाने की भी एक डगर और खुल गई थी। या कहा जाए कि खोल ली गई थी। मेरी जिन्दगी यों ही बेसूद-सी बिला पहचान वाली थी। तमन्ना जगी थी कि इस जिन्दगी को एक पहचान मिले, कुछ निखरी हुई। हिस्से में आयी भौतिकता तो मुझे उठा नहीं पाएगी, क्योंकि मैं मरगिल्ली आय वाली नौकरी से बँध चुका था, मैं किसी अन्य माध्यम, जो आदर, स्वागत भाव रखता हो, उससे जुड़कर अपने को उठा लूँ। अन्दर कुण्डली मार रही हीन भावना से मुक्त हो जाऊँ।

दसवीं कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मेरी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गई थी। इंटरमीडिएट मैंने बतौर व्यक्तिगत छात्र किया था। तब बी.ए., एम.ए. की डिग्री कॉलेज और विश्वविद्यालय में बगैर प्रवेश लिए हासिल नहीं की जा सकती थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की मध्यमा व उत्तमा की परीक्षाएँ मैंने इस धारणा से विभ्रमित होकर पार की थीं कि वे बी.ए., एम.ए. के समकक्ष मान्यता प्राप्त है।

विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के दौरान ही व्यक्ति पुस्तकों के सम्पर्क में आ जाता है, कहा जाए कि पहली कक्षा से ही। पर यह सम्पर्क वक्ती तौर का होता है, जरूरत से बना व उसी पर टिका। काम हो गया और थैंक्स, बाय-बाय। पुस्तकों से इससे आगे का कायम रहने वाला सम्पर्क ही दोस्ती, लगाव या रिश्ते के वर्ग में आता है और वही असली होता है। पहली वाली स्थिति गर्भाशय की है जबकि दूसरी वाली गर्भाशय के बाहर आ जाने और वयस्कता की ओर कदम बढ़ाते हुए अपना लक्ष्य तय करने की। मनुष्य समाज से सम्बन्धित अनेक अनुशासन हैं मसलन विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल, खगोल आदि आदि। ये अनुशासन व्यक्ति के पेशे भी होते हैं, किन्तु यदि सब नहीं तो इनमें से कुछ व्यक्ति पेशे से बाहर भी इन अनुशासनों से जुड़े ज्ञान से अपनी संलग्नता बनाए रखते हैं, अपनी आन्तरिक समृद्धि और परितृप्ति के लिए। इस संलग्नता का प्रमुख माध्यम पुस्तकें ही होती हैं। कला और साहित्य भी इन

अनुशासनों का एक अंग है, मनुष्य के आंतरिक लोक की ओर अधिक उन्मुख, प्रकृति में अधिक उदात्त संस्कृति का एक महत्वपूर्ण घटक भी।

मैंने सन् 1951 के आसपास परीक्षाओं के मोहजाल से स्वयं को समेट कर लिखना प्रारम्भ कर दिया था। प्रारम्भिक चरण में ही मेरी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाने लगी थीं। इस स्थिति ने मुझे लेखन से न केवल जोड़े रखा, उसे अधिक गम्भीरता से लेने के लिए उत्प्रेरित भी किया। दूसरों ने क्या लिखा है, समकालीन लेखन की दशा-दिशा क्या है, इसको जानने के लिए पढ़ना बहुत जरूरी है, बल्कि ज्यादा-से-ज्यादा। मैं एक सार्वजनिक पुस्तकालय का सदस्य बन गया था। मैं दफ्तर से आने के बाद चाय-नाश्ता निपटा कर पुस्तकालय चला जाता और वहाँ घण्टे-दो घण्टे बैठकर पत्रिकाएँ पढ़ा करता। पत्रिकाएँ भी पुस्तकों का एक रूप होती हैं, उनका लघु रूप। रविवार या अन्य राजकीय अवकाश के दिन मैं सुबह भी घण्टा-दो घण्टा के लिए पुस्तकालय चला जाता। घर लौटने से पहले अपनी मनपसन्द की दो-एक पुस्तकें जारी करा लेता और उनको हफ्ता-दस दिन में पढ़कर दूसरी पुस्तकों से बदल लेता।

बांग्ला उपन्यासकार विमल मित्र से किसी ने पूछा था कि क्या उनको कोई दुख है? विमल मित्र का उत्तर था कि हाँ, एक बड़ा दुख यह है कि डिकेन्स, बालजाक, टॉलस्टॉय, यहाँ तक कि शरतचन्द्र के जमाने में भी पाठकों के पास बहुत समय था। अब तो मनुष्य के पास साँस लेने तक का वक्त नहीं है। सवेरे से शाम तक यदि पाठक व्यस्त रहेगा तो उसे पुस्तकें पढ़ने का समय मिलेगा कब, मोटी पुस्तकों के लिए तो कतई नहीं।

पिछली शताब्दी के छठे, सातवें, बल्कि आठवें दशक तक अपने देश के छोटे-बड़े नगरों में जीवन-यापन और घर-गिरस्ती की तमाम व्यस्तताओं के बाद भी लोग कुछ समय बचा लेते थे, जो उनका अपना होता था, निजी। वे इसका उपयोग अपनी इच्छानुसार करते थे। तब न तो घरों में टीवी की इतनी अराजक घुसपैठ थी न इतने अधिक चैनलों का धावा था और न ही मनोरंजन के नाम पर इतने रियल्टी शोज, जुर्म, सनसनी व हंसोगे

तो फँसोगे जैसे रुचियाँ बिगाड़ू कार्यक्रम। क्रिकेट का इतना ज्यादा अपने नए संस्करणों के साथ हल्ला बोल भी नहीं था। निम्न मध्यवर्ग के अनेक परिवारों में भी साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, सरिता, कादम्बिनी जैसी पत्रिकाएँ आती थीं। जब-तब मुशायरे, कवि सम्मेलन होते थे जो रात-रात भर चलते थे। इनका निथरा और सुसंयोजित आयोजन संस्कारशील वाले बड़े वकीलों और सेठों व पुराने जमींदारों के यहाँ भी होता था।

हिन्दी के बड़े प्रकाशक पॉकेट बुक्स निकालने लगे थे। उन्होंने तब आज की भाँति प्रकाशन को पैसाकमाऊ शुद्ध उद्योग नहीं बनाया था। देसी-विदेशी भाषाओं के क्लासिक्स और नोबेल पुरस्कार प्राप्त रचनाकारों की पुस्तकें एक दो रुपए के अल्प मूल्य पर उपलब्ध कराते थे। रेलवे और बस-स्टैण्ड के बुक-स्टॉलों पर ये सुलभ रहती थीं।

पुस्तकों से मेरा लगाव बढ़ता जा रहा था। उसकी अनिवार्यता मुझ में पैठ बनाती जा रही थी। मधुरेश से मेरा परिचय घनिष्ठता में बदल चुका था। कथा-साहित्य के पहचानशुदा आलोचक होने के नाते प्रकाशक उनके पास समीक्षार्थ नयी-से-नयी पुस्तकें भेजते रहते थे। आलोचना धर्म से निष्ठा निभाने के लिए वह अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें खरीदते भी थे। उन्होंने अपना एक निजी पुस्तकालय बना लिया था। उन दिनों वह बदायूं में प्राध्यापक थे। मेरे अपने नगर शाहजहांपुर की पड़ोस की एक लड़की बदायूं के एक महिला विद्यालय में प्राचार्या थी। उसका शाहजहांपुर का चक्कर महीने में दो-एक बार लगता रहता था। वह बदायूं में मधुरेश के परिवार से भी अच्छी तरह जुड़ी हुई थी। उसके माध्यम से मुझे वहाँ से अपनी व मधुरेश की पसन्द की पुस्तकें पढ़ने को मिल जाती थीं।

अंग्रेजी भाषा पर मेरी पकड़ कमजोर थी। हाईस्कूल तक मैं इस विषय में फेल और पास के अंक वाली सीमा पर ही डोलता रहा था। अपने ज्ञान को समृद्ध करने के विचार से मैं अंग्रेजी की पुस्तकें भी कोश की सहायता से पढ़ने लगा। मुश्किल होने पर भी मैं धीरे-धीरे पुस्तक की विषय-वस्तु और उसकी शिल्पगत विशेषता तक पहुँचने के लिए सेंध लगाने में सफल होने लगा। सार्त्र, हेमिंग्वे, काफ्का आदि के कुछ उपन्यास और कहानियाँ मैंने अंग्रेजी में ही पढ़ी थीं। खलील जिब्रान की कई रचनाओं को अपने अधिक निकट पाकर मैंने उनका अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद भी किया था।

परिवार की छोटी-छोटी मामूली जरूरतों को पूरा न कर सकने वाले माह के बजट में से गुंजाइश न होने पर भी गुंजाइश निकालकर या अन्य किसी बोसीदा उपाय से मैं पुस्तकें जब-तब खरीदकर अपनी अलग भी लायब्रेरी विकसित करने लगा था। स्तरीय पत्रिकाओं को शुल्क भेजकर उनकी सदस्यता ग्रहण कर लेता था। मुझे लगता था। इन सबसे मेरे कक्ष का साहित्यिक परिवेश बनेगा जो मेरे अन्दर के लेखक के लिए जीवन दायक साबित होगा।

नया उपन्यास लिखना प्रारम्भ करते हुए मैं अपनी मेज पर पहले से पढ़े हुए दो-चार बेहद चर्चित उपन्यास रख लेता था। कहीं गतिरोध आने पर या अगला अध्याय कैसे शुरू किया जाए इससे निपटने के लिए मैं उन उपन्यासों के पृष्ठ यहाँ-वहाँ से उलट-पलट लेता और मैं सही दिशा-संकेत पा लेता।

मैंने अपने लेखन के शुरुआती दौर में पढ़ा था-दीपक अँधेरा खाता है इसलिए काजल उगलता है। यह कथन मेरे लिए दीक्षा-मंत्र बन गया। मैं जिला कचहरी में नौकरी करता था। वह छल, कपट, ठगई, बटमारी की दुनिया है। वहाँ बगैर इनसे यारी-दोस्ती निभाए हुए रहना निहायत मुश्किल था। मैंने चालीस वर्षों का सेवा-काल उनसे फासला बनाकर उसी मंत्र के बलबूते काटा।

मेरी संतान ने अपने निरे बचपन से ही घर में आईं पत्रिकाओं, पुस्तकों की उपस्थिति पायी थी। वे जब-तब उनको पलट लेते थे और अपने मतलब लायक उनमें पाकर उसे पढ़ लेते थे। पुस्तकों ने शनैः शनैः उनमें भी अपना सद्-प्रभाव सुस्थापित कर दिया था, बहुत-कुछ बेखबरी में जैसा कि इस प्रभाव का चरित्र है। मेरा बड़ा बेटा अमेरिका में बस जाने पर भी पश्चिम के रंग में रंगा नहीं है न ही वहाँ की विचलन का शिकार हुआ है। मेरा दूसरा बेटा डॉक्टर है। वह लम्बे अरसे से इस पेशे में होते हुए भी निरा पेशेवर नहीं हुआ है। अपने मरीजों के हित-अहित की चिन्ता उसे रहती है। वह अति निर्धनों को फीस से छूट दे देता है और बिला पैसे की दवा की भी जब-तब व्यवस्था कर देता है। मेरा तीसरा बेटा पत्रकार है। मैं जब सपत्नीक बड़े बेटे के पास रहने विदेश जाने लगा था, मैं उसके मालिक से मिला था। वह उस समय रायपुर में देशबन्धु दैनिक में तैनात था। पत्र के मालिक ने कहा था- आपका बेटा परिश्रमी है। उसमें सीखने-जानने की भूख है। मगर एक पत्रकार को ऊँचाई पर पहुँचने के लिए जिस दन्द-फन्द और गलत-से-गलत आदमी को भी अपनाने और पब व क्लब संस्कृति को अंगीकार करने की आवश्यकता होती है, उसकी इसमें कमी है। इस कमी को बताते हुए वह हँस दिए थे। मैं स्वयं भी उसकी पुष्टि में हँस दिया था।

पुस्तकें व्यक्ति को कैसे माँजती, सँवारती, दीक्षित और संस्कारित करती हैं इसको रूसी कथाकार एण्टेन चेखव ने अपनी कहानी 'शर्त' में बखूबी दर्शाया है। पैसे से मालामाल एक व्यक्ति को अपनी कोठी पर दूर पास के लोगों को दावत पर आमंत्रित कर उनसे किसी विषय पर बहस-मुबाहिसा कराने का शौक था। ऐसी एक बैठक में चोचें लड़वाने के लिए चुग्गा था-मृत्युदण्ड कम पीड़ादायक है या अति दीर्घकालीन कारावास। कुछ लोग मृत्युदण्ड के पक्ष में इस दलील के बल पर अड़े थे कि अपराधी मृत्यु अंगीकार कर एक बार में ही पीड़ा से मुक्ति पा लेता है जबकि लम्बी सजा में उसे हर दिन पीड़ा की राह से गुजरना होता है। दूसरे पक्ष वालों की दलील यह थी कि लम्बी सजा में मुक्ति की फिर भी सम्भावना रहती है और इन्सानी जिन्दगी बेहद कीमती होती है। वह धनकुबेर मेजबान पहले पक्ष के मत का था। उसने दूसरे पक्ष को मात देने के लिए यह शर्त रखी थी कि जो व्यक्ति दीर्घ अवधि के लिए कमरे में बन्द होकर कैद रहना स्वीकार करेगा उसे वह पुरस्कार देगा। अवधि यदि एक दशक से भी अधिक समय की थी तो पुरस्कार की राशि भी उतनी ही वजनी थी। महफिल के भागीदार एक मेहमान ने उस शर्त को बतौर चुनौती मंजूर कर लिया। शर्त में यह शामिल था कि उस व्यक्ति को कुछ जरूरी सुविधाएँ मुहैया करायी जाएँगी किन्तु यदि वह कभी भी उस कैद के कष्ट को असह्य पाकर भागता है तो उसे भुगत ली गई सजा की एवज में, भले ही वह कितनी लम्बी क्यों न हों, एक दमड़ी भी नहीं मिलेगी। मेजबान की कोठी के एक निर्जन भाग में बने कमरे में वह व्यक्ति बन्द हो गया। समय काटने के लिए पहले उसने ताश, शतरंज जैसे खेल साधनों की माँग की, फिर संगीत उपकरणों की। बाद में वह पुस्तकों की माँग करने लगा था और उसने अपनी सारी संलग्नता केवल पुस्तकों में ही केन्द्रित कर ली थी। उत्तरोत्तर पुस्तकें जीवन व जगत के तमाम विषयों की होने लगी थी और अन्य प्रमुख भाषाएँ सीखकर वह उन भाषाओं की भी पुस्तकें पढ़ने लगा था। अवधि बीतती जा रही थी। उस धनकुबेर की माली हालत अपनी उच्छृंखल जीवन-पद्धति के कारण इस बीच पतली हो गई थी। पुरस्कार-राशि जुटाना उसके लिए एक बड़ी समस्या बन चली थी। अवधि समाप्ति का एक सप्ताह रह गया। फिर केवल एक दिन। धनकुबेर शाम को जेब में पिस्तौल डालकर कैदी के कमरे में दबे पाँव घुसा। जर्जर काया हो चुके कैदी का पीत सिर मेज पर प्रायः संज्ञाशून्य टिका हुआ था। जल रही मोमबत्ती के पास एक पत्र दबा रखा था जिसमें कैदी ने लिखा था कि पुस्तकों के सान्निध्य से जिस ज्ञान-सम्पदा से वह समृद्ध हुआ है, वह उसके जीवन के लिए विरल सौगात है। जगत के भौतिक मोह से वह निस्पृह हो गया है। सारता-निस्सारता जान गया है। वह अपने मेहमान-मित्र का अति कृतज्ञ है और उसे पुरस्कार राशि की अदायगी से पूर्णतया निर्मुक्त करता है। धनकुबेर कमरे से वापस चला आया था।

कैदी ने चेतनावस्था में लौटने पर अपने मेहमान मित्र से शर्त हारकर ही उसे उसके दायित्व-धर्म से मुक्त करना ज्यादा सही माना। अवधि समाप्ति से चन्द घण्टे पहले वह कमरे में बनी खिड़की के रास्ते बाहर निकल गया।

पुस्तकों के माध्यम से हम उन विद्वानों, विचारकों, साहित्यकारों से भेंट कर सकते हैं जिनको हमने कभी देखा नहीं है। स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, शेक्सपियर, कालिदास, प्रेमचन्द, गोर्की, जैनेन्द्र, यशपाल हमारी चेतन-अवचेतनावस्था में मूर्त-अमूर्त रूप में उपस्थित हो सकते हैं बशर्ते उनके साहित्य के प्रति हममें जुनूनी किस्म का लगाव पैदा हो गया हो। 'लगे रहो मुन्ना भाई' फिल्म के नायक को गांधी साहित्य के प्रति जिज्ञासा की भूख जागने पर गांधी जी, जो जरूरत की घड़ी में नायक से साक्षात्कार करने लगते हैं, वह सिनेमा का सच न होकर जीवन का सच है। अकसर सपने में मैं राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, नामवर सिंह, कृष्णा सोबती से रूबरू हो जाता हूँ। उनको अपने से संवाद करता पाता हूँ।

पिछले वर्ष सन् 2008 में मेरी पत्नी का निधन हो गया। मैंने अपने किसी बेटे के पास जाकर रहने की बजाए अपने पैतृक मकान में, जिसमें मैं था, उसी में बने रहने का निर्णय लिया। एक तो 79 वर्ष की आयु ने, दूसरे पैर के गठियाग्रस्त हो जाने ने मेरे कहीं बाहर निकलने पर पूर्ण विराम-सा लगा दिया। रात्रि में प्रायः मेरी नींद ढाई-तीन बजे फुर्र हो जाती है। मैं कोई नई आई पत्रिका या पुस्तक पढ़ने लगता हूँ। दिन का भी ढेर सारा समय मेरा लेखन या पुस्तकों की संगत में गुजरता है। अकेलापन मुझमें ऊब या बेचैनी पैदा नहीं करता है। पुस्तकों को मैंने वयस्क समझदार साथी पाया है। हर दृष्टि से अधिक विश्वसनीय भी। हाँ, यह अवश्य है कि मैं दुनियावी नजर से एक बाहरी कामों के लिए नाकारा और बेमशरफ का। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह स्थिति स्वीकार्य योग्य न हो। जीवनदायिनी दवा के दो-एक दुष्प्रभाव होते ही हैं।

136/2, बक्सरियां, शाहजहांपुर-242001

‘ज़ीरो रोड’ : अनिश्चय की ओर जाती सड़क

मेहरबान राठौर

यूँ तो ‘जीरो रोड’ इलाहाबाद की एक सड़क का नाम है। माना जाता है कि ज़ीरो रोड इलाहाबाद की पहली सड़क थी। लेकिन हम यदि अपने चारों तरफ निगाह डालें तो महसूस होता है कि न कोई रिश्ता, न ही कोई नज़रिया अपनी पूर्णता तक पहुँच रहा है। हर चीज़ ज़ीरो तक जाकर प्रश्नचिह्न में तब्दील हो जाती है। नासिरा शर्मा को यह दुनिया का सबसे बड़ा सच लगता है। इसी सच को एक उपन्यास के ज़रिए समझने-समझाने की कोशिश ‘ज़ीरो रोड’ के बहाने की गई है।

एक ऐसा वक्त जब यह निश्चय करना असम्भव-सा लगता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित? क्या सही है और क्या ग़लत ? एक ऐसा दौर जब दोस्त और दुश्मन में फ़र्क करना अन्तरिक्ष फ़तह-सा प्रतीत होता है। ऐसे दौर में निम्न-मध्यवर्गीय परिवेश की जीवनशैली से रुबरु होने के लिए ‘ज़ीरो रोड’ उपन्यास पढ़ा जाना चाहिए। समाज से सरोकार रखने वाले बुद्धिजीवियों के लिए यह समय सबसे कठिनाई भरा है, हो सकता है इतना जटिल वक्त किसी सदी के बुद्धिजीवियों के समक्ष न रहा हो। निम्न-मध्यवर्गीय जीवन को समझना इसलिए अब महत्वपूर्ण हो पड़ा है, क्योंकि आज सबसे अधिक अनुपात इसी वर्ग का है, और लगातार बढ़ रहा है। नासिरा शर्मा के इस उपन्यास में ख़ास बात यह है कि निम्न-मध्यवर्गीय समाज क्या कर रहा है? तक प्रश्न सीमित नहीं है। नासिरा के प्रश्नों का दायरा वर्ग के मस्तिष्क तक है कि आज का मध्यवर्गीय क्या सोच रहा है?

इलाहाबाद में नासिरा शर्मा ने अपने जीवन के कई दशक गुज़ारे हैं। यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उनके जीवन पर, उनकी विचार-प्रक्रिया पर इलाहाबाद ने अपना प्रभाव छोड़ा होगा। यहाँ सिर्फ़ गंगा-जमुना का संगम ही नहीं है, यहाँ की संस्कृति भी गंगा-जमुनी है। सरस्वती नदी का अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता, मगर लोग कहते हैं, सरस्वती ज्ञान का प्रतीक मानी जाती है और ज्ञान के क्षेत्र में इलाहाबाद कुछ समय पहले तक एक महत्वपूर्ण शहर था। साहित्य, संगीत, विज्ञान एवं संस्कृति में यहाँ इतिहास के महत्वपूर्ण अध्याय लिखे गए। राजनीति में इलाहाबाद का योगदान किसी से छुपा नहीं है। इलाहाबाद में पली-बढ़ी होने के कारण नासिरा का लगाव यहाँ से होना स्वाभाविक है। यहाँ की आबो-हवा आज भी तमाम बदलावों के बावजूद ऐसी है कि अतिथि को भी ऐसे बाँध लेती है कि वह अतिथि नहीं रह जाता। नासिरा ने तो यहाँ अपना बेशकीमती बचपन और किशोरावस्था का समय गुज़ारा है। लेकिन, बकौल नासिरा- ‘‘हमारा बचपन जिस घर व मुहल्ले में गुज़रा वह अम्माँ की ज़िन्दगी में ही हमारा नहीं रह गया। वह शहर हमारे लिए महत्वपूर्ण नहीं था। क्योंकि हमने शहर को नहीं, घर को जिया था। मैं और मेरा छोटा भाई गर्दिश के दिनों की पैदावार थे। हमारे लिए माँ ही सबकुछ थी। बड़े तीनों भाई-बहन घर की उस शान-शौकत के साक्षी थे, जिसके खंडहर की तरह हम हर दिन बढ़ रहे थे। बचपन जितना आरामदायक गुज़रा, किशोरावस्था उतनी ही कष्टदायक। ....हमने उन दिनों को जिया था, उससे अजीब तरह की मुहब्बत हमारे बीच पनपी थी। ....वही मोहब्बत थी, जिसने अम्मा के उस छिने हुए घर के बाहर शहर

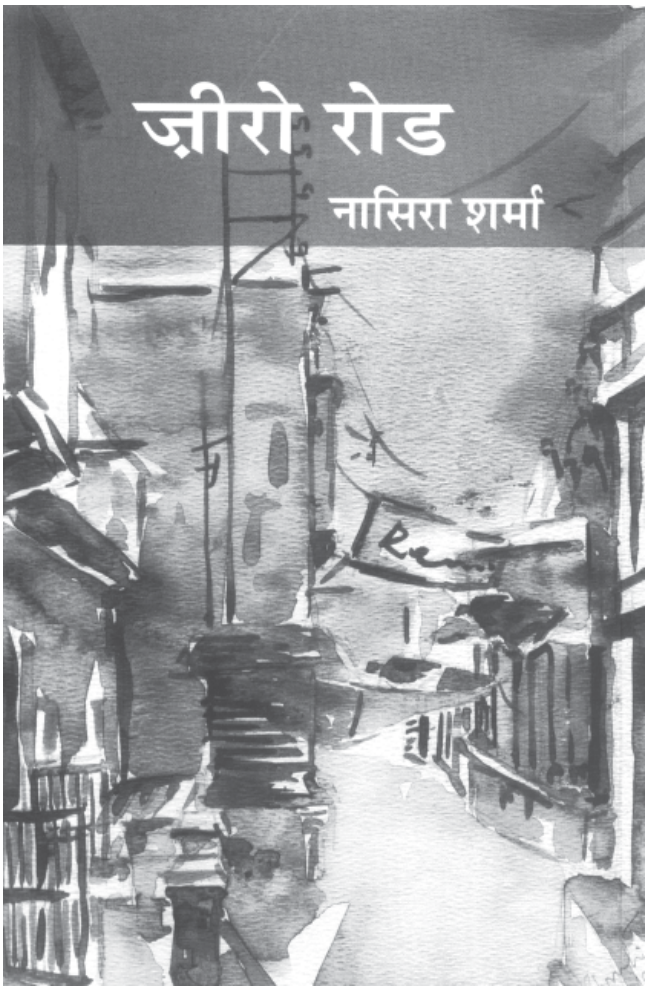

देखने को मज़बूर किया, और मैं जो इलाहाबादी थी, जिसने कुछ मुहल्लों के अलावा कुछ देखा नहीं था, ख़ासकर मुझे लगा कि यह तो अपने शहर से कोई और शहर उगा है। अपनों से बिल्कुल अलग, बिल्कुल अलग तरह के लोग यहाँ बसते हैं।'' और अपनी माँजी की मृत्यु के बाद जो दूसरा इलाहाबाद नासिरा ने देखा, उसकी झलक उपन्यास 'ज़ीरो रोड' में बीच-बीच में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

'ज़ीरो रोड' पर ध्यान केन्द्रित करने से पहले यह स्मृति में लाना उचित होगा कि 'ज़ीरो रोड', उस कथा-त्रयी का अब तक का अन्तिम उपन्यास है, जिसके शुरुआती दो स्तम्भ 'अक्षयवट' और 'कुइयाँजान' हैं। इसके साथ ही याद करिए उनका एक कहानी संग्रह 'पत्थरगली'। 'पत्थर गली' कहानी संग्रह में भले ही कोई कहानी इलाहाबाद के परिवेश पर आधारित न हो, लेकिन शीर्षक 'पत्थर गली' इलाहाबाद की ही एक गली का नाम है। खैर! नासिरा शर्मा का जुड़ाव इलाहाबाद से बहुत अधिक है और उन्होंने यहाँ से जुड़कर बहुत कुछ लिखा है। इस तरह के लेखन के कुछ ख़तरे भी हैं। अगर लेखक या लेखिका की दृष्टि बृहत नहीं है तो कथा-सूत्र में पुनरावृत्ति की प्रबल सम्भावना रहती है। पात्रों की एकरूपता भी लेखन को उत्कृष्ट नहीं होने देती और न ही पुनः पठनीय। लेकिन कथा-त्रयी के तीनों स्तम्भों में नासिरा न तो एक कथा-सूत्र में बँधती हैं और न ही पात्रों की पुनरावृत्ति होती है। कथा-त्रयी इस प्रकार की सभी सम्भावनाओं से मुक्त है। इनमें अगर कुछ एक-सा है तो भूगोल।

उपन्यास 'ज़ीरो रोड' में इलाहाबाद का परिवेश भले ही प्रभावी हो, मगर भूगोल दुबई तक विस्तृत है। इसके साथ दुबई में रहने वाले, तमाम देशों से आए, कमाने वालों के देशों की झलक भी कभी-कभी मिलती है। इलाहाबाद से एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार का लड़का दुबई में पैसे कमाने गया है। लेकिन 'चक' मुहल्ले का ठेठपन उसमें हमेशा अपना स्थान बनाए रखता है। इलाहाबादी परिवेश में कथानक दो परिवारों के इर्द-गिर्द घूमता है। यहाँ स्थान निश्चित करना, कहानी के बृहत अर्थों के साथ नाइंसाफी होगी, इलाहाबाद तो एक बहाना है। यह स्थिति तो हर एक विकास कर रहे छोटे शहर की है। परिवारों के मुखिया दो पूर्व मित्र 'जगतराम' और 'रामप्रसाद' निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों के तमाम मुखियों को प्रतिनिधित्व देते हैं।

रामप्रसाद एक अतिसामान्य निम्न मध्यवर्गीय आदमी है। जिसकी वर्तमान स्थिति और उसकी प्रवृत्तियों के बनने की प्रक्रिया उसके समान लोगों से बहुत मेल खाती है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि 21वीं सदी के निम्न मध्यवर्गीय एक उम्र के बाद रामप्रसाद की तरह हो जाते हैं। रामप्रसाद की पत्नी राधारानी के शब्दों में, ''जीवन भर जिस आदमी ने बँधी आमदनी पर संतोष किया और कभी ज्यादा की हवश नहीं की, वही आज बेटे की कमाई पर लखपति बनने की सोच रहा है। ....उनकी सोच का केन्द्र चटोरेपन पर न टिककर पैसे के लालच में ढल गया है।'' 20वीं और 21वीं सदी में यही फ़र्क है, जिसे नासिरा बड़े आसानी से देखती हैं। रामप्रसाद का बेटा सिद्धार्थ पैसा कमाने दुबई गया है। रामप्रसाद अपने बेटे से खुश हैं। उनके रिश्तों की डोर किसी और चीज़ से बँधी है, उन्हें डर है कि उनका लड़का किसी ग़लत संगत में न पड़ जाए, वे अपने-पन का अंदाज़ इस बात से नहीं लगाते कि सिद्धार्थ उन्हें कितनी बार पत्र लिखता है? कितने फ़ोन करता है? वे कहते हैं, ''वह हमें भूला नहीं है। बराबर हर माह पाँच तारीख को पैसा मेरे हिसाब में आ जाता है।'' वह अपनी पुत्री पूनम से कहते हैं, ''इस बार राखी भेजोगी और जो नगद सिद्धार्थ भेजेगा तो वह तू मुझे देगी न?'' वह स्वयं को मुखिया समझते हुए अब भी ये आशा रखते हैं कि एक ईंट भी एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रखी जाएगी, तो उसमें उनकी सहमति आवश्यक है। आखिरकार वह पिता है। जब पूनम उनसे बताती है कि इस बार भैया मेरे लिए घड़ी और विवेक के लिए मोबाइल भेजेंगे। तो वह चिड़चिड़ा उठते हैं, ''मूर्खता है? चलो घड़ी परीक्षा के दिनों में काम आ जाएगी। मगर यह मोबाइल सिर्फ़ आवारागर्दी और फ़िजूलखर्ची है। मुझसे पूछा तो होता?'' उनका यह सोचना यूँ ही नहीं है, इसके पीछे सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। 21वीं सदी की अत्यधिक मुनाफ़े की मानसिकता में रिश्ते इसी तरह चकनाचूर हुए हैं। रामप्रसाद धीरे-धीरे कंजूस हो रहे हैं, जो कि अधिकतम निम्न मध्यवर्गीय बड़े-बूढ़ों के साथ हो रहा है।

'जीरो रोड' पर रामप्रसाद के पड़ोसी जगतराम अभी रिटायर्ड नहीं हुए हैं। वह पहले रामप्रसाद के मित्र थे और अब सिर्फ पड़ोसी। यह घटने तक की कहानी नासिरा ने बड़ी स्पष्टता के साथ लिखी है, जोकि पढ़ने योग्य है। जगतराम को शहर की चिन्ता है। वे अपनी पत्नी यशोधरा से कहते हैं, ''बड़ा बुरा हाल हो गया है अपने शहर का। सुनोगी तो विश्वास नहीं आएगा।'' फिर सुनाते हैं दफ्तर का किस्सा, ''कुम्भ मेले में किसी मुसलमान को दुकान न लगाने दी जाए, इसकी हठ लगा बैठे दो साथी। उनका तर्क था कि जब नहान पर और हिन्दू धर्म पर उनकी श्रद्धा नहीं तो फिर कमाई क्यों? लाभ तो उन्हें जाना चाहिए जो अपने हैं। तू-तू-मैं-मैं चली मगर मैंने वही किया जो उचित था। अरे भई! तुम धर्म के नाम पर अब रोजगार दोगे? धंधे की इजाजत दोगे?'' जगतराम भले ही इससे आहत हों, मगर अब तक जिन छोटे शहरों में पहली बार चूड़ियाँ लड़कियाँ मुसलमान बुआ के हाथ से पहनती रही हों, वहाँ अब इस तरह के द्वंद्व उठने लगे हैं। वस्तुतः धर्मों के प्रति कट्टरता के पीछे भी बाजार का बड़ा योगदान है। जिसकी जद में किसी न किसी तरह पूरी दुनिया है। कट्टरता और धर्मों के नाम पर दो-चार प्राणी अपनी जेबें भर रहे हैं। उनमें तर्क करने की अपार क्षमता है, जिससे जगतराम और उनके जैसे लोग शिकार हो रहे हैं। पात्र यमुनाप्रसाद को इस सबके पीछे राजनीति दिखाई देती है, ''राजनीति ने यह विष घोला है। ये सब रथयात्रा का कमाल है।''

21वीं सदी के इलाहाबादों में इस सोच वाले ललित प्रसाद लगातार बढ़ रहे हैं। जिनकी रणनीति है, ''नौकरी और बाजार में इनका (विपक्षी धर्म वालों का) साझा कम से कम होना चाहिए। एक दिन देखना ये

अपनी मौत स्वयं मर जाएँगे। फिर सजावट के लिए राजनीति में यहाँ वहाँ आकर बैठे ही रहे तो क्या कर लेंगे?'' यह दूसरे तरह से पनपता, बिल्कुल अलग तरह का इलाहाबाद है। जहाँ साहित्य, विज्ञान, संगीत, संस्कृति हाशिये पर हैं। ग्लोबलाइजेशन और सूचना क्रांति का लाभ जितना अपराधों और मुनाफाखोरों को मिला है, उतना साहित्य, संगीत और स्वयं विज्ञान को मिलता तो परिदृश्य कुछ और होता। उपन्यास पढ़ने के बाद यह सोचना और आसान हो जाता है। सिद्धार्थ पर दबाव डाला जा रहा है कि वह संगठन का काम दुबई में शुरू करे। वहाँ धनवान लोगों की कमी नहीं है। चंदा कम नहीं पड़ेगा। सिद्धार्थ से मोबाइल नं. माँगा जाता है, लेकिन वह दे नहीं पाता, टाल जाता है फिर देर तक व्यथित रहता है।

छोटे शहरों में साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि कैसे तैयार होती है, उपन्यास के एक भाग में स्पष्ट होती है। मुन्ना हाफ़िज का बेटा कासिम कमाली अपना नाम 'काली' रख लेता है ताकि हिन्दू लोगों के बीच काम करने में आसानी हो। वह एक प्रोपर्टी डीलर है। कितनी अजीब बात है कि बाजार कहीं दंगे उकसाता है तो कभी कट्टरपन से दूर भागने को मजबूर करता है। यही विडम्बना है कि दुश्मनों को पहचानना नई सदी के योद्धाओं के लिए यक्ष प्रश्न से कम नहीं है।

कथानक का नायक सिद्धार्थ है। सिद्धार्थ निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों की युवा पीढ़ी को प्रतिनिधित्व देनेवाला सफल पात्र है। मेरे हिसाब से 21वीं सदी का निम्नमध्यवर्गीय युवा होना दुनिया का सबसे बड़ा चुनौती भरा काम है। अपना अस्तित्व बचा रख पाना और भी मुश्किल। जिससे सिद्धार्थ और उसके साथी जूझ रहे हैं। वे चाहे जिस देश के हों। वे सब साथ हैं मगर फिर भी अकेले हैं। उनके सर पर कोई साया नहीं है। अगर 21वीं सदी के मध्यवर्गीय युवाओं पर एक नजर डालनी हो तो 'जीरो रोड' पढ़ना उपयुक्त है। आज के सिद्धार्थ, श्रीनिवासन, रामचंद्रन, बरकत उस्मान उत्कृष्ट फ़िल्में तो देखते हैं मगर उनसे प्रभावित नहीं हो पाते। प्रभावित होते भी हैं तो सिर्फ रोने और आँसू बहाने की हद तक। ये वही युवा हैं, जिनके अभिभावकों ने उन्हें खूब पढ़ाया। स्कूल, कोचिंग, फिर घर पर ट्यूशन। साहित्य, संगीत उन्हें हमेशा फ़िजूल चीजों की तरह गिनाया गया। डॉक्टर, इंजीनियर बनकर अब वे केवल कुशल कारीगर और पालतू कुत्ते हैं। जिन्हें समाज के द्वंद्वों की कोई ख़बर नहीं। उपन्यास पढ़ते वक्त ये विचार स्वत:स्फूर्त दिमाग में आते हैं।

पूरे उपन्यास में राधारानी सभी महिला पात्रों में सशक्त बनकर उभरती हैं। मोरक्कन पत्रकार नोबीला और ब्रिटिश अखबार की रिपोर्टर कैथरीन अपनी संक्षिप्त उपस्थिति के बावजूद अपने लिए जगह बनाती हैं। लेकिन वे सिद्धार्थ से दूर ही रह जाती हैं। उसकी जिंदगी का हिस्सा नहीं बन पातीं। कथा का अंत सिद्धार्थ की घर वापसी के निर्णय के साथ होता है जो कि जीरो रोड की सार्थकता को दर्शाता है। घूम-फिर कर व्यथित का फिर उसी स्थान पर पहुँचना।

नासिराजी की कथाओं में प्लॉट और किरदारों के किस्से बहुत दिलचस्प हैं। कभी इस नतीजे पर पहुँचना मुश्किल हो जाता है कि प्लॉट किरदारों का मिज़ाज़ तय करते हैं या कि किरदार प्लॉट की दिशा। उनका कथानक जमीन से जुड़ा हुआ होता है। अत: प्लॉट, परिवेश और पात्रों की केमिस्ट्री खूब सजती है। नासिराजी की भाषा भी कविता की भाषा की तरह है। तमाम उपमाओं से सजे वाक्य, गद्य में भी पद्य का-सा अनुभव देते हैं।

'जीरो रोड' के पात्रों में एक टीस-सी महसूस होती है। लगता है, कि वे असहाय हो चुके हैं। जिन डूबनेवालों के पास शायद कोई तिनका नहीं है। उनके पात्र अच्छी से अच्छी फ़िल्मों को देखकर सिर्फ रो पाते हैं। वे लेबनान, इराक, अफ़गानिस्तान, फिलीस्तीन, इज़राइल की परिस्थितियों की बात तो करते हैं, मगर अपना कोई सार्थक पक्ष तय नहीं कर पाते। उन सबमें एक तरह का अकेलापन है, जो उन्हें लगातार खोखला कर रहा है। खास बात यह, कि उनके अधिकतम पात्रों को जितनी भी परेशानियाँ है, वे सब मानसिक वे बस मानसिक तौर पर व्यथित हैं। रमेश और पर ईयाद मूड होने पर खाना खाते हैं, न कि भूख लगने पर। उपन्यास अरब का भूगोल तो अपने में संजोये हैं, परन्तु वहाँ के स्थायी निवासियों के बारे में कुछ नहीं बोलता। अरब के स्थायी निवासियों के नाम पर मात्र कुछ बुद्धू औरतों का जिक्र आता है। एक हद तक यह सच है कि कामगार मजदूर जो दूसरे देशों से यहाँ आते हैं, वे स्वयं को यहाँ की संस्कृति से अलग मानकर चलते हैं। फिर भी, यहाँ के वातावरण का उन पर कोई प्रभाव तो पड़ना ही चाहिए। सिद्धार्थ ऐसे किसी भी प्रभाव से अनभिज्ञ है। 'जीरो रोड' हिन्दी भाषा का पहला उपन्यास होगा, जिसमें अरब देशों में पैसा कमाने गए, कई देशों के लोगों की स्थिति को इतनी निकटता और सरलता से पेश किया गया है। लेकिन परिस्थितियाँ कहीं सुखद नहीं हैं। एक पात्र के ही शब्दों में, ''साला कहीं सुकून नहीं। कल यहूदी भूने जा रहे थे, आज फिलीस्तीनी भूने जा रहे हैं। हर दहाई बाद सियासत बदलती है तो समय भी नई करवट बदल, नया इतिहास लिखने बैठ जाता है। अब किस-किस के लिए रोया जाए? बेहिस हो जाइए। सब कुछ देखने के बाद अनदेखा कर दीजिए, वरना जीना दूभर हो जाएगा। यह दुनिया जहन्नुम बन जाएगी।'' निम्न मध्यवर्गीय मजदूर जो बाजार की जद में है, इससे अधिक नहीं सोच सकता। बहुत अच्छा होता, अगर वह इससे आगे भी कुछ सोच पाता।

अंतत: 'जीरो रोड' शीर्षक कथानक को सार्थक नाम देने में पूर्णत: सफल है। 'जीरो रोड' भले ही इलाहाबाद की सड़क का नाम हो। मगर 'जीरो रोड' का 'जीरो' स्थानवाचक नहीं स्थिति-वाचक संबोधन है। जिसका मतलब है, हर नजरिये का जीरो तक पहुँचकर प्रश्नचिह्न में तब्दील हो जाना। अनिश्चय की स्थिति की ओर जानेवाली सड़क! जिस पर हम सरपट भागे जा रहे हैं। निम्नमध्यवर्गीय परिवेश की टोह लेने और समझने के लिए उपन्यास पठनीय हो पड़ा है।

जीरो रोड/ नासिरा शर्मा/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

मेहरबान राठौर द्वारा डॉ. ए.के. पांडेय, 247/ 180-बी, एलेनगंज, इलाहाबाद-211002

क हा नी

पीड़ित के पक्ष की कहानियाँ

त्रिभुवन राय

सुधा अरोड़ा साठोत्तरी पीढ़ी की जागरूक और बहुचर्चित कहानी लेखिका हैं। अपनी कहानियों में उन्होंने जहाँ सदियों से दबी-कुचली स्त्री की पीड़ा को मुखरित किया है, वहीं आम आदमी के साथ होनेवाले अन्याय, अत्याचार एवं शोषण के खिलाफ भी अपनी आवाज बुलन्द की है। उनके लिए मनुष्य और उसकी गरिमा के पक्ष में खड़ा होना कला एवं साहित्य का सबसे बड़ा मूल्य है। जाहिर है, इस दृष्टि के तहत रचनात्मकता को बतौर हथियार इस्तेमाल करनेवाले किसी भी लेखक की सबसे बड़ी चिन्ता मूल्यों के क्षरण एवं अमानवीयता को बढ़ावा देने वाली स्थितियों के प्रति आवाज बुलंद करने की होती है। जीवन एवं जगत में वह जहाँ भी इन्हें घटित होते हुए देखता है, उसके भीतर रचनात्मक उद्वेलन उठे बिना नहीं रहता। सुधा अरोड़ा की कहानियाँ इसकी साक्षी हैं। रचना के स्तर पर स्थितियों के प्रति उठनेवाले हाहाकार एवं क्षोभ का वैशिष्ट्य यह है कि वह उनसे टकराने के लिए तो उत्प्रेरित करता ही है, साथ ही उनकी भीतरी एकरूपता को उकेरकर उनके विकृत विद्रूप का आईना दिखाने का कलात्मक सामर्थ्य भी उन्हें प्रदान करता है।

'रहोगी तुम वही' सुधाजी की बहुचर्चित कहानियों का संग्रह है। इसमें संकलित कहानियाँ लेखिका की कहानी चेतना की विविध प्रवृत्तियों को साक्षात्कृत कराते हुए उनके कलागत सरोकार और उसके केन्द्र में अवस्थित मूल्य-चिन्ता का सुखद बोध कराती दीख पड़ती हैं।

'सात सौ का कोट' संग्रह की एक अनूठी कहानी है, जिसकी शक्ति दीन-हीन आदमी के क्रूर शोषण के विरुद्ध लेखिका के रचनात्मक प्रतिवाद की तीखी व्यंजना में दिखाई देती है। कहानी में रामदीन केवल रामदीन ही नहीं है, वह शोषित, पीड़ित और भूखे उन आम लोगों का प्रतिरूप है-जीवन की शुरुआत से ही फांका मारने की स्थिति के चलते जिनकी अंतड़ियाँ सूख जाती हैं और जिन्हें पेट भर खाना खिलाने का प्रलोभन देकर मालिक उन्हें अपना जरखरीद गुलाम बनाये रखने में कोई कसर नहीं छोड़ते। कैलाश टेलर के यहाँ रामदीन का काम तैयार कपड़ों पर इस्त्री करने का है, पर बकौल 'मालक' वह उसकी दुकान का पीर-बावर्ची-मिस्त्री सब कुछ है। ''सुबह दुकान खोलकर झाड़ू लगाने से लेकर रात को मालक के घर बर्तन साफ करने तक का काम वह करता है।'' अपने ही ढंग का धूर्त और काइयां किस्म का 'मालक' एक तरफ तो उसकी तारीफ करता है कि उसके जैसा आदमी आज के जमाने में मुश्किल से मिलता है, उस पर तरस खाने का नाटक करते हुए यह भी कहता है कि उसके जैसे आदमी के लिए सात सौ की रकम कोई छोटी रकम नहीं, दूसरी ओर भीतर ही भीतर कोट के जलने के एवज में चुकाए गए सात सौ का हर्जाना उससे वसूलने की जुगत भी बनाता है और दूसरे ही दिन जैसे ही मौका देखता है उसके जात भाइयों के बीच उसे इस तरह जलील करता है कि रामदीन पानी-पानी हुए बिना नहीं रहता। दुकान छोड़कर कोई दूसरा इंतजाम करने का जैसे ही वह अपना ब्रह्मशास्त्रीय फरमान सुनाता है, रामदीन उसके कदमों में आ गिरता है। ''इस शहर में तो जो हैं सो आप हैं माईबाप और कौन अपना है, आप मेरी तनखा में से दस रुपया महीना काट लो।'' वह गिड़गिड़ाता है और बीवी समेत उसका गुलाम बन जाता है।

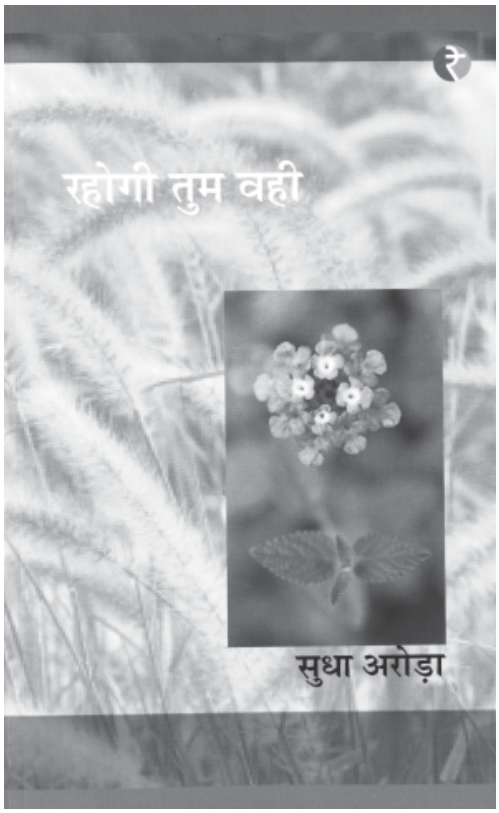

वक्रतापूर्ण एकालाप शैली और बेधक लाक्षणिक भाषा के कारण अपनी ऊपरी सरलता में भी यह कहानी बहुत तीखी और क्षोभपूर्ण है। लेखिका की खूबी यह है कि क्रांति और विद्रोह के किसी बड़बोलेपन के बिना ही केवल मर्मभेदी स्थितियों को उकेरकर पीड़ित के भीतर की आग की भयावहता का अहसास जगा जाती है और वह भी शोषक के ही बयान के द्वारा।

व्यवस्था के विद्रूप को उजागर करने वाली सुधा अरोड़ा की सत्तर के दशक की एक और चर्चित कहानी है 'दमनचक्र'।

कहानी की नैरेटर बहन दीप्ति चक्रवर्ती के लिए भी यह बात समझ से परे है कि कैसे उसके पीछे लगा रहनेवाला उसका मासूम-सा छोटा भाई दामू इतना सख्त और अक्खड़ बन गया कि घर का उसके लिए कोई मतलब ही नहीं रह जाता। खाट पर पड़े बीमार बूढ़े बाप के एकमात्र सहारा ट्रांजिस्टर तक को बेच देने में वह कोई गुरेज नहीं करता, सिर्फ इसलिए कि क्लब की पूजा के चंदे के पच्चीस रुपये उसे किसी भी कीमत पर चुकाने हैं। दामू-दमन चक्रवर्ती-न कामचोर है, न अक्षम एवं अयोग्य, फिर भी वह बेकार है, परोपजीवी है। पढ़ाई, स्पोर्ट्स यहाँ तक की पढ़ाई में अव्वल रहनेवाले दामू की इस दुर्दशा के लिए आखिर जिम्मेदार कौन है? दामू काम करना चाहता है जरूर, पर स्वाभिमान के साथ। उसके वश की यह बात नहीं कि चांदी के चंद सिक्कों के लिए उसे और उसकी कौम को अनाप-शनाप कहा जाए। उसे अपने बाबा (पिता) से भी शिकायत है कि जिन्दगी भर ईमानदारी से काम करके उसे और घर को उन्होंने आखिर क्या दिया? ''उन्हीं के साथ के लोग, जिन्होंने बेईमानी की, आज बालीगंज-टालीगंज में दोमंजिला बनवाकर ठाठ से रह रहे हैं।'' वह इस सच को अच्छी तरह समझता है कि व्यवस्था के शीर्ष पर जब तक भ्रष्ट तत्व काबिज हैं तब तक उसके जैसे नौजवानों का कुछ भी होनेवाला नहीं।

कहानी में दामू के प्रति ही नहीं, बाबा और माँ के प्रति भी नैरेटर की संश्लिष्ट अनुभूतियों का अंकन व्यवस्था के स्तर पर रचना को अनेक आयामी एवं मार्मिक रचाव दे जाता है। हर सहृदय पाठक पर इस कहानी का प्रभाव असंदिग्ध है।

लगभग बारह-चौदह वर्षों के रचनात्मक सन्नाटे के बाद जब बाबरी मस्जिद कांड (6 दिसम्बर, 1992) और मार्च 93 के मुम्बई में हुए बम विस्फोटों ने पूरे देश को हिलाकर रख दिया तब सुधा जी भी चुप नहीं रह सकी। साम्प्रदायिक जुनून की बलि चढ़ते निर्दोष एवं निरीह लोगों की आहों के ताप ने जैसे उनकी लेखनी पर जमी बर्फ को पिघला दिया था। सबके दर्द को रचनात्मक विस्तार देते हुए उन्होंने 'काला शुक्रवार' जैसी कहानी लिखी, जिसमें धर्म एवं मजहब से परे आतंकित इंसान का दर्द स्वत: बोलता नजर आता है। हाँ विस्फोटों की त्रासदी के अंकन के सन्दर्भ में सबकुछ को समेटने की लेखिका की आकुलता यदि एक ओर उसे स्थिति का शिकार होने से नहीं बचा पाती तो दूसरी ओर रचना की प्रभावान्विति की सघनता भी विखंडित हुए बिना नहीं रहती। कथा लेखिका की जिज्ञासा पर मीराज के चेहरे से उसके भीतर की सारी तकलीफ जैसे अपने सारे लिबास उतारकर सामने आ खड़ी होती है। 'जान है तो जहान है', वह कहता जरूर है। लेकिन सलीके से रखी हुई दाढ़ी और तराशी हुई अपनी मूँछों के बिना जब वह आईने में अपने को देखता है तो लगता है, भरे बाजार किसी ने उसके कपड़े उतार लिए हों।

'काला शुक्रवार' की तुलना में इसी विषय पर लिखी गई 'जानकीनामा' कलात्मक संयम का अपेक्षाकृत अच्छा उदाहरण पेश करती है। इस कहानी के संदर्भ में इस वर्गीय बोध को रेखांकित करनेवाली रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध कविता 'वे और नहीं होंगे जो मारे जाएँगे' की याद आ जाना बहुत स्वाभाविक है। 'काला शुक्रवार' में भी आद्यंत इस बोध की उपस्थिति उसे ताकत ही नहीं देती, यादगार कथा भी बना देती है।

'युद्ध विराम' और 'दहलीज पर संवाद'-ये दोनों कहानियाँ बुजुर्ग पीढ़ी के प्रति युवा पीढ़ी की उपेक्षा, उदासीनता और उनके नितान्त अकेले पड़ते जाने की कहानियाँ है। इनमें उभरने वाला दर्द कितना मारक है, इसका अहसास सुमित्रा और उसके बूढ़े पति

के संवाद खंडों से किया जा सकता है। बेटे के बहुत दूर असम की तरफ तबादले की स्थिति से बेचैन सुमित्रा पूछती है, ''हमारा क्या होगा?'' उत्तर में पति की सिर्फ हूँ, की ध्वनि सुनाई देती है। दुबारा पत्नी की ओर से वही सवाल आने पर ''हमारा क्या हो सकता है?'' कहकर पति अपनी त्रासद नियति की ओर इशारा करता है। इसे विडम्बना नहीं तो क्या कहा जाएगा कि एक तरफ बूढ़े माँ-बाप हैं, जिनके भीतर बहू-बेटे और पोते के प्रति आत्मीयता एवं वात्सल्य का उमड़ता सागर है और दूसरी ओर जवान बहू-बेटा उनसे दूर इसलिए लग रहे हैं कि कहीं बुढ़ापे की उनकी बीमारी से उनके बच्चे को न कुछ हो जाए, कि कहीं उनके मौज-मस्ती के मौके न छिन जाएँ। इस स्थिति में बूढ़े बाप को मेजर लाल की बात का याद आ जाना बहुत प्रासंगिक हैं-''जिस तरह पिछली लड़ाई में सिपाही जख्मियों को साथ ढोने से तंग आकर पीछे छोड़ जाते थे, उसी तरह....।'' कहानी के अन्त में छत पर लटकते धूल सने पंखे के धुंधलाने जाने की प्रतीकात्मक स्थिति के सहारे दोनों की असहायता और खोखलेपन की व्यंजना सहृदय पाठक को सहज ही अवसाद से भर देती है।

सुधा अरोड़ा की बहुचर्चित कहानी 'महानगर की मैथिली' की चित्रा का मातृत्व इस बात की इजाजत नहीं देता कि नन्हीं मैथू को संडे के दिन भी ताराबाई के सीलन भरे चौदह बाइ बारह के इकलौते कमरे में छोड़कर शहर जाकर अंग्रेजी पिक्चर देखी जाए। पर पति के बनाए प्रोग्राम में खलल न पड़े इसलिए वह मजबूर है। वैसे बेटी की खातिर उसके भीतर कई बार नौकरी न करने का विचार भी उठा। वह महसूस करती रही कि आया उसका पेट तो भर सकती है, पर माँ के हाथों का स्पर्श और दुलार उसे नहीं दे सकती। लेकिन हर बार महानगर का अर्थशास्त्र उसकी भावनाओं पर भारी साबित हुआ। ताराबाई के घर से लौटी मैथू रात भर बुखार में तपती रही। लेकिन सुबह मम्मी को स्कूल के लिए तैयार होते देख वह उन्हें टुकुर-टुकुर देखती ही नहीं, मम्मी के निकलने के पहले ही अपने काँपते हाथों से जूतों को पहनने की कोशिश करती है और ताराबाई के घर जाने की जिद करते हुए कहती है, ''मम्मी जाओ ऑफिस! पापा जाओ ऑफिस। हमको मत पकड़ो, पापा....'' बेटी की बेहोशी की इस स्थिति में भी माँ को चिन्ता सता रही है कि अब उसे स्कूल के लिए टैक्सी लेनी पड़ेगी। यानी आठ रुपये पैंसठ पैसे का अतिरिक्त खर्च। महानगरीय जीवन का हृदय विदारक चित्र पूरी कहानी के बयान में बड़ी तीव्रता से झाँकता है।

'आधी आबादी' उस खूबसूरत, सुशिक्षिता, सम्भ्रान्त स्त्री की पीड़ा को व्यक्त करती है, जो अपने 'साहब' और बच्चों के लिए आत्मव्यक्तित्व को खुद ही कुचल देती है और टुकड़ों में जीती है। घर से बाहर जाती है तो तीन चौथाई हिस्सा घर में छोड़ जाती है। समय के साथ जब उसके दूसरे हिस्से का आकर्षण भी चुक जाता है तब तो उसकी विडम्बना का अन्त ही नहीं रह जाता। बड़े होते बच्चों की स्वतन्त्रता की सहज माँग और उन्हें अपने से चिपकाए रखने की उसके भीतर की माँ की चाहत उसकी त्रासदी को और दर्दनाक बना देती है। उधर उसके उच्चाधिकारी साहब पति अपने में इस कदर खोये रहते हैं कि ''उनका अपनी ओर ध्यान खींचना किसी खतरे की झंडी जैसा था, जिसके बजने से उस खाई के फट जाने का डर था जिसे लेकर वह चिंतित (रहा करती) थी।'' कैदखाने के मानिन्द उस घर से छुटकारा पाने के लिए उसका व्याकुल होना स्वाभाविक है। किन्तु एक सुबह जब साहब कटे पेड़ की तरह ढह जाते हैं तब उन्हें उसकी याद जरूर आती है। ऐसे में उसका यह अहसास, कि पुरुष स्त्री का इस्तेमाल अपनी जरूरत के मुताबिक एक पदार्थ के बतौर ही करता है, इतना बेधक बन जाता है कि उसे स्वयं अपनी परिपूर्णता का अहसास अपने पति के बायीं ओर के लचीले सहारे में ढल जाने पर ही होता है।

आज जब जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर औरतें आगे बढ़ रही हैं तब सदियों पुरानी पुरुष की वर्चस्व मूलक भोगवादी दृष्टि पर सवाल उठना लाजिमी है। सुधा अरोड़ा की चर्चित कहानियाँ सवाल ही नहीं उठातीं, मौजूदा विद्रूप के खिलाफ कारगर मुठभेड़ भी करती दीख पड़ती हैं। प्राप्त स्थितियों के दंश के चलते इनकी स्त्रियाँ रोती-कलपती ही नहीं, इसके विपरीत उनका इस तरह से मुकाबला करती हैं कि पाठकीय चेतना आन्दोलित एवं क्षुब्ध हुए बिना नहीं रहती इस तरह सुधा अरोड़ा का स्त्री विमर्श यथार्थ का विस्फोटक चित्र ही उपस्थित नहीं करता, भविष्य के पथ को संकेतित करने के कारण आश्वस्त भी करता है।

सुधा की कहानियों की शक्ति रचनात्मक प्रतिवाद की व्यंजना में लक्षित की जा सकती हैं। इसके लिए निश्चय ही उनकी व्यंजना प्रवण मुहावरेदार बेलौस एवं धारदार तीखी भाषा को श्रेय दिया जाना चाहिए। संग्रह की कहानियाँ सम्बद्ध परिवेश और चरित्र के साथ अपने प्रतिपाद्य को जानदार ढंग से पेश ही नहीं करतीं, पाठक को भी साथ-साथ लिए चलती हैं। 'सात सौ का कोट' की आत्म-संलापात्मक शैली और 'दहलीज पर संवाद' के अपनी सरलता में भी बेधक संवाद कितने अचूक तरीके से अमानवीय होती स्थितियों को उद्घाटित करती हैं। रचनात्मकता की चरम परिणति प्रतिमान की उस अनुभूति में निहित होती है, जो कृति के ऊपरी पाठ की तह में अवस्थित अन्य पाठों के भेदने से प्राप्त होता है। संग्रह की कई कहानियाँ इस बिन्दु पर सहृदय को चुनौती ही नहीं देतीं, उसे गहराई से आकृष्ट भी करती है। अवश्य ही यहाँ प्रतीयमान का वस्तु एवं विचार मूलक रूप ही प्राप्त होता है, जो आज के समय की रचनात्मक अपरिहार्यता है।

संग्रह की कहानियाँ अपने संवेदनात्मक ताप और लेखिका सुधा अरोड़ा की सधी हुई दृष्टि के कारण सहृदय को प्रभावित ही नहीं करती, वरन् उसे सोचने के लिए मजबूर भी करती है। अतएव उनकी रचनात्मक शक्ति से इनकार नहीं किया जा सकता।

रहोगी तुम वही/ सुधा अरोड़ा/ रेमाधव पब्लिकेशंस प्रा.लि., सी-94, सेक्टर-63, नोएडा, गौतम बुद्ध नगर (उ.प्र.)/ मूल्य : 200 रुपये

2/सी6, सेक्सरिया कम्पाउण्ड, मुकुंद जाधव मार्ग, परेल विलेज, मुम्बई-400012

भागते हुए दिन में आदिग्राम उपाख्यान

प्रेमशंकर सिंह

'सनातन बाबू का दाम्पत्य' युवा कहानीकार कुणाल सिंह का पहला कहानी संग्रह है। उनकी कहानियों से हिन्दी पाठक पूर्व परिचित हैं लेकिन संग्रह में छपी इन कहानियों से युवा कहानी की सम्भावनाएँ ही प्रकट नहीं होती है, अपने समय की संवेदना के भार की क्षमता का भी पता चलता है। कुणाल सिंह हिन्दी की युवा कहानी के किंचित विवादित किन्तु सामर्थ्यवान् कथाकार है।

भूमंडलीकरण के दबाव ने आज यथार्थ को एक जटिलतम रूप दिया है। इस जटिलतम यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए जिस साहस और प्रयोगधर्मिता की जरूरत है उसे कुणाल की कहानियाँ पूरा करती है, किन्तु इस क्रम में यथार्थ के ऊपर उनकी पकड़ कमजोर नहीं होती है। बहुरेखीय, संश्लिष्ट और बहुस्तरीय यथार्थ के प्रकटीकरण के लिए फैंटेसी का शिल्प तथा भाषिक खिलवाड़ की प्रवृत्ति ही उन्हें अपने समकालीनों में अलग ठहराती है।

इस संग्रह में कुल सात कहानियाँ हैं। संग्रह की पहली कहानी 'शोकगीत' है। यूँ कुणाल की पहली कहानी 'आदिग्राम उपाख्यान' है, जो कि इस संग्रह में छपी चौथी कहानी है। 'शोकगीत' का जो परिवेश कहानीकार रचता है, पाठक उससे इस तरह परिचित होता है–'टुकड़ा आसमान में सूरज कहीं नहीं था लेकिन हवा में सूरज के बुझे हुए ठण्डे चूरे तिर रहे थे। पेड़ों के धुएंले हरे पर पीले का रोगन चढ़ा था जैसे देखने वाले ने अपनी आँखों पर पीले काँच के चश्मे मढ़ा रखे हैं। पता नहीं क्यों इन कुछ क्षणों चारों तरफ पीले भूरे व धूसर की विस्तीर्ण और हताश दूरियों के बीच स्वयं को पाकर मन किन्हीं अपरिचित उदासियों में डूबने लगता है। न जाने कैसी एक कुदरती चीज की कमी गले में फाँस की तरह बार-बार हूक उठाती सालने लगती है। मुँह अधूरेपन के फेनिल स्वाद से भर जाता है।'

'मन की अपरिचित उदासियाँ' तथा 'अधूरेपन का फेनिल स्वाद' किसी गहरी निराशा के संकेत हैं। पाठक आगे ही पाता है कि वाचक 'मैं' और उसका दोस्त मेंहदीरत्ता दोनों 'बीयर के तांबइ नशे में' थे और उनके लिए 'हँसने और रोने के बीच के बीहड़ कंटीले रास्ते गायब हो गए थे और दुनिया में जो भी था बहुत सहज था।' बीयर की अन्तिम बूंदों के साथ उन्हें ऐसा लग रहा था कि 'एक दूसरे से पूछने और बताने के लिए हमारे पास बहुत कुछ है। हम किसी भी सवाल का कोई भी जवाब दे सकते थे। कुछ भी मायने नहीं रखता। हम एक बहाव में थे और शब्द अपनी न्यूनतम उत्तेजना के ताप में विहस रहे थे। कुछ इस हद तक कि शब्दों पर से स्वाद की परतें उखड़ गई थीं। बोलने के नैरन्तर्य में भी शब्दों के टुकड़े एक-दूसरे से जुदा और सम्पूर्ण थे।' इन्हीं न्यूनतम उत्तेजना के ताप में विहसते शब्दों से वाचक अपने को थोड़ा संयत रखने की कोशिश करता हुआ बयान करता है कि–''आज यह ग्यारहवाँ दिन है। बिना कोई ठोस वजह बताए एक साथ तीन महीने का वेतन देकर नौकरी से हमारी छुट्टी कर दी गई थी। तब से हम खाली हैं....। 'अब हम बेकार हैं'– उदासियों में लिपटा हुआ यह एक ऐसा सच था जिसे हम इतनी जल्दी स्वीकार नहीं करना चाहते। एक अच्छे-भले नौकरीपेशा होने की जो गर्मी होती है, वह हममें अभी चुकी नहीं थी यद्यपि उस नौकरी को वापस पाने का कोई सवाल नहीं था लेकिन हमें किसी दूसरी की उम्मीद थी।'' इसी उम्मीद में नौकरीहीन होते हुए भी नौकरीशुदा दिखने की कोशिश करते वाचक और उसके दोस्त मेंहदीरत्ता की 'अन्तहीन भटकन' है तथा इन सबके ही बीच है वाचक की प्रेमिका लिपि। लिपि के ही एक बार टोकने पर वाचक सोचता है–'जब से नौकरी छूटी है क्या सण्डे क्या मण्डे, सब दिन होत एक समान। इस बाबत तो कभी ध्यान ही नहीं दिया। क्या मैं पिछले सण्डे को भी दफ्तर गया था।'

ये उसी देश के युवा हैं जो युवा हृदय सम्राटों का देश है और इन्हीं से युवा होते भारत की तस्वीर पेश की जाती है। जिस देश की आधे से अधिक आबादी युवाओं की हो, उस देश में युवा तथा उनकी समस्याओं से रूबरू होने को सरकारें लगातार नजरदांज करती रही हैं। बेकारी की समस्या हिन्दुस्तान के भीतर उदारीकरण की शुरुआत के साथ ही बढ़ती गई है और 'इंडिया शाइनिंग' तक बदस्तूर जारी है। बेरोजगारी इस युवा भारत का सबसे बड़ा सच है। यही कारण है कि 1990 के बाद से अब तक सत्ताधारी पार्टियों को बेरोजगारी का सवाल हिन्दुस्तान का सबसे अहम सवाल लगता है। 'बेकारों को काम दो या बेकारी का दाम दो' के नारे की घेरेबन्दी पर यद्यपि सरकारों ने बेरोजगारी भत्ते को एक दौर में जरूरी समझा था पर तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि सत्ता की अदलाबदली के खेल में सभी सत्ताधारी दलों के कार्यकाल में जहाँ सार्वजनिक क्षेत्रों का बड़े पैमाने पर निजीकरण किया गया वही पर बड़ी तादाद में नौकरीपेशा लोगों को निकाला गया। जाहिरा तौर पर इसका बड़ा असर युवाओं के वर्तमान और भविष्य पर पड़ा। लेखक इस यथार्थ से वाकिफ है।

वाचक इसी अंतर्द्वंद्व की मनोभूमि पर बड़ी वेदना से शोकगीत की रचना करता है और फैंटेसी के जरिये लिपि के शरीर के भीतर घुसकर, उनके कानों तक पहुँचकर, अपने बेरोजगार होने के सच को कहना चाहता है। पर अंततः वह अपने अपराधबोध को कुबूल नहीं कर पाता है।

'गोंगेश पाल इति वृतांत' संग्रह की दूसरी कहानी है। भूमंडलीकरण का मौजूदा दौर जिस सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की विचारधारा के रूप में पूरी दुनिया में फैल रहा है, सूचना एवं संचार क्रांति के विस्फोट उसके सहायक हैं क्योंकि राजनीतिक भूगोल पर कब्जे के लिए मानसिक भूगोल का अधिग्रहण आवश्यक होता है। एक आरोपित हाव-भाव, रहन-सहन, खान-पान की निर्मित द्वारा स्वातंत्र्य चेतना का अधिग्रहण कर उपभोक्तावादी चेतना का आरोपण साम्राज्यवाद के इस नए संस्करण की विशेषता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा सूचना क्रांति के इस विस्फोट के दौर में भी कैसे सूचनाएँ अंधविश्वासों और अवैज्ञानिक मान्यताओं के जरिए पूँजीवादी सत्ता के फासीवादी रूप का आख्यान रचती है-कुणाल की यह कहानी इसी सत्य को व्यंग्य के जरिए रचती है। कहानी में बीच-बीच में आनेवाले विज्ञापन तथा गोंगेश के जादू इस बात के प्रतीक हैं कि जीवन की गति को महज उपभोग की वस्तु में रिड्यूस किया जाना वर्तमान सत्ताओं का शगल है और जादू की जरूरत इसीलिए है कि यह 'चीजों की महाविजय' का दौर है। इस महाविजय का प्रतिकार तभी संभव है जब गोंगेश की ही तरह हम सभी सहजबोध से 'हम दो हमारे दो' वाले विज्ञापनों को देखने के बाद यह प्रश्न कर सके कि ''बैनचो अब इनकी इजाजत लेनी होगी बच्चे पैदा करने के वास्ते, लेकिन ये हैं कौन जो इस तरह लोगों को उपदेश दे रहे हैं।'' यूँ भी बंगाल अपने जादू की वजह से काफी प्रसिद्ध है।

कहानी के बीच से ही कहानी निकालकर रखने की जादुई शैली का एक उदाहरण 'आदिग्राम उपाख्यान' कहानी है। पूँजीवाद का वर्तमान दौर दलाल और सट्टे की पूँजी की बदौलत फल-फूल रहा है। व्यापार और सट्टे की जद में प्रतिरोधी चरित्रों का गायब होना और किन्नरों का प्रकट होना भी शामिल है।

'सनातन बाबू का दाम्पत्य' कहानी दरअसल जीवन में अनुपस्थित के रचनात्मक उपस्थिति का आख्यान रचती है। एक तरह से सनातन बाबू के वास्तविक जीवन में अनुपस्थित पत्नी के जरिए कहानीकार जीवन का वह यथार्थ रचता है जिसको कि ध्यान में रखकर ही मुक्तिबोध ने रचना को जीवन की पुनर्रचना माना था। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री पवित्र, मर्यादित और परिवारिक बेड़ियों में जीवन जीने को मजबूर होती है। पर सनातन बाबू अविवाहित हैं, पर कल्पना एवं स्वप्न से अर्जित अपनी पत्नी के साथ लोकतांत्रिक एवं न्यायपूर्ण दाम्पत्य की आकांक्षा रखते हैं।

'साइकिल कहानी' एक बोल्ड विषय को ध्यान में रखकर लिखी गई कहानी है। ऊपरी तौर पर देखकर कोई भी यह कह सकता है कि यह सिर्फ स्त्री के प्रति यौनाकर्षण की विकृत मनोवृत्ति का परिणाम है या फिर ''वस्तुतः एक युवा लेखक द्वारा स्त्री-पुरुष के संबंधों के प्रति सामाजिक, पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार के दायित्व को सही ढंग से न समझ पाने के कारण ही यह कहानी लिखी जा सकी है'' या फिर चाची के प्रति युवा सुंदर का आकर्षण जवानी के उफान व मनमाने प्रवाह का नतीजा है, पर लेखक ने कहानी में युवक से चाची के प्रति सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित नहीं करवाई है। दरअसल समाज के सांस्कृतिक ठेकेदारों के नैतिकतावादी आग्रहों पर ही यह कहानी सीधी चोट पहुँचाती है। नैतिकतावाद का यह विज्ञापन

ही सदियों से स्त्री के शोषण एवं सामंती बेड़ियों में उसकी जकड़न का जिम्मेदार रहा है। उन्हें शायद यह नहीं दिखता है कि एक अपरिचित स्त्री, जिसका कि सुंदर से परिचय चाची के रूप में करवाया गया, के जीवन का ठहराव एवं जड़ता युवक के प्रति सहज आकर्षण की वजह से टूटती है। साइकिल जिस तरह से युवक के लिए नएपन तथा रोमांच का अनुभव लेकर आती है वैसे ही चाची भी। 'वे मतलब चाची तथा चाची मतलब रीना' तक की यात्रा जहाँ युवक को बार-बार रोमांचित करती है वही साइकिल के काले रंग से चाची के पैर के बालों का सादृश्य उसे साइकिल चलाते वक्त भी 'जानेमन' के संबोधन को प्रेरित करता है।

'भागते हुए दिन में नई साइकिल का होना' गति की दिशाहीनता के खिलाफ जीवंत गति का रूपक बन जाता है। चाची से सुंदर की प्रगाढ़ता के साथ ही चाची के निजी जीवन में खोया रस भी वापस लौटने लगता है। चाची की संघर्ष क्षमता तथा जिजीविषा देखने के काबिल है–''रीना जब हँसती है तो उनकी देह थर-थर हिलती है। हँसी की एक दुबली जिद उनकी छाती से उतरकर फेफड़ों की जड़ों तक पहुँच जाती है। कितना कुछ है जो गाहे-बगाहे हँसी की रुआँसी शक्ल में बाहर आ जाता है।''

मुक्तिबोध ने बहुत पहले (1938 के आसपास) 'मानवी पशुता' शीर्षक से एक कहानी लिखी थी जो रचनावली के तीसरे खंड में 'आखेट' शीर्षक से संकलित है। इसी कहानी में नायक सिपाही मुहब्बत सिंह भूखी स्त्री के साथ पुलिस चौकी के भीतर बलात्कार करता है। किंतु 18 साल की अवस्था में अपने प्रेम की अपूर्णता का बोध उसे उस स्त्री के साथ जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करता है। मुक्तिबोध के शब्द हैं कि 'मनुष्य में स्थित जिस पशु ने उस स्त्री को चौकी के अंदर पैर रखते हुए अपना आखेट बना लिया था। उसी मनुष्य के भीतर बैठे हुए देवता ने मानो अपने आचरण से अनाथिनी को सनाथिनी बना दिया था।' कुणाल के इस संग्रह में 'आखेटक' शीर्षक से एक कहानी है। भूख एक कारण के रूप में यहाँ भी उपस्थित है फिर भी 70 सालों के भारतीय समाज की विकास यात्रा के 'अनचाहे चिह्न' इस कहानी में अपनी पूरी ताकत के साथ उपस्थित हैं।

इस संग्रह के फ्लैप पर यह टिप्पणी है कि 'लेखक ने बिना किसी आंदोलनात्मक तेवर को अख्तियार किए, कहन की सर्वथा एक नई भंगिमा अर्जित की है।' याद आते हैं मुक्तिबोध, जिन्होंने रचनाकर्म को एक सांस्कृतिक कर्म के बतौर लिया। मुक्तिबोध के यहाँ रचनाओं में अगर आत्मसंघर्ष एवं आत्मालोचना की प्रचुरता है तो इसलिए कि उनके मूल में सामाजिक संघर्षों की आहट, न्याय और मुक्ति के पक्ष में संघर्ष है। समाज में सक्रिय अन्याय तथा मुक्ति की बाधाओं की निर्मम आलोचना में उनकी रचना अपने समय का सच बन जाती है। जबकि इसके विपरीत सामाजिक संघर्षों से जो रचनाकार/कलाकार अपने को अलगाव में डालते हैं उनका आत्मबोध ही जगतबोध का पर्याय बन जाता है। ऐसे में यह भी ध्यान रखने की चीज है कि ऐसे साहित्यिक आंदोलन, जो सामाजिक आंदोलन की कीमत पर आंदोलनहीन समय में गढ़े जाते हैं, उसमें परिवर्तनकारी शक्तियों को भी सम्प्रदाय/गढ़ों में शामिल करने की पुरजोर कोशिशें होती हैं। आज भी साहित्यिक हलकों में सनातनी सम्प्रदाय गढ़ने की कोशिशें बदस्तूर जारी हैं। इन गढ़ों के उपेक्षित रचनाकार भी आखिर अपनी रचनात्मकता को प्रमाणित करते ही हैं। नई कहानी आंदोलन के दौर में मुक्तिबोध का रचनात्मक रूप से किसी चर्चा में नहीं होना, गढ़ों को उपेक्षित रखनेवाले तथा सामाजिक गतिविधियों के प्रति अपने को सजगता से समर्पित करनेवाले रचनाकार का ही सच नहीं है, यह हमारे अपने समय के कहानी-समय को समझने का नजरिया हो सकता है।

सनातन बाबू का दाम्पत्य/ कुणाल सिंह/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : 120 रु.

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि - संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्र और विन्यस्त करना है तो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

कविता की अद्वितीय राह

ओम निश्चल

बीते दिसंबर में जीवन के साठ वर्ष पूरे कर चुके पंकज सिंह की कविता अपनी वयस्कता और कार्यभार दोनों दृष्टियों से उन्हें एक उत्तरदायी कवि का गौरव देती है। खड़ी बोली के परिमार्जित गद्य का जितने सलीके से प्रयोग पंकज सिंह ने अपनी कविताओं में किया है, उसे अनदेखा कर पाना असंभव है। अपने पिछले संग्रह 'जैसे पवन पानी' में पंकज सिंह भाषा को लेकर जिस तरह की उद्यमिता बरतते हैं, वैसे उदाहरण हिन्दी कविता में कम देखने को मिलते हैं। उन्होंने लिखा है– 'उग जाग ओ मेरी भाषा/ गुजरती सदी के रंग-बिरंगे कोहराम में आग का मौन दर्प लिए' जिस भाषा को जगाने के प्रयासों में वे पिछले तीन दशकों से लगे रहे हैं उसमें किसी भी तरह का गत्यावरोध, अवसाद और नैराश्य उन्हें कदाचित स्वीकार्य नहीं है। बल्कि उन लोगों को वे आड़े हाथों लेते हैं जो भाषा में कराह और संगीत में रुदन भर रहे हैं, 'जो ज्वार सरीखी उम्मीदों को ले जाते हैं/ मायूसियों के तहखाने में।' (जैसे पवन पानी) पंकज सिंह अपने नए संग्रह 'नहीं' में भाषा का पहले जैसा तेवर और तापमान बरकरार रखते हैं तथा प्रतिरोध की आवाज और मनुष्यता के हक में एक गहरी हूक के साथ जीवन को जीवन की ओर पुकारते हैं।

मनुष्यता के गुण-धर्म में पगे लोगों के लिए पंकज सिंह कहते हैं कि उन्हें सूखी नदियों की प्राचीन रेत पर कभी-कभार की गलतियों की कचोट के हिचकोलों में जहाजों की तरह डोलते देखा है जो कला के प्रदर्शन के लिए ताकतवरों की चिलम नहीं भरते, किसी दिखावटी सांस्कृतिक स्वांग में शामिल नहीं होते, किन्तु ऐसे ही लोग उनमें उम्मीदें जगाते हैं। हाँ, उन्हें उन लोगों से नफरत है, जो भाषा और पीड़ा के बीच कलात्मक परदे लटकाने और इनकार की जगह चापलूस मुस्कानें बिछाते हुए देखे जाते हैं। इस तरह पंकज सिंह का नया संग्रह 'नहीं' प्रतिरोध और सकारात्मक निषेध की एक काव्यात्मक फलश्रुति का परिचायक है। उनके बारे में अरुण कमल का यह कहना सटीक है कि उनकी कविता समकालीन हिन्दी कविता के गर्भगृह की सलोनी, पवित्र, कुछ-कुछ रहस्यमयी प्रतिभा है जिसकी द्युति हमारे अँधेरों को आलोकित करती है (वसुधा-75)।

पंकज सिंह ने 'आहटें आसपास' (1981) से चलकर अपने तीसरे संग्रह 'नहीं' तक एक सुदीर्घ यात्रा तय की है। इस यात्रा में उनके अनुभव सामाजिक, राजनीतिक समझ की परिपक्वता से भीगे हैं, तो उनकी संवेदना सहमे हुए सपनों का जायजा लेती हुई सयानी हुई हैं। वह सत्ता और प्रतिपक्ष की डरावनी हँसी का प्रतिकार करती है। उनकी कविता शक्तियों से समझौता नहीं, मुठभेड़ चाहती है तथा मनुष्यों के साथ कुछ मनुष्यों के जघन्य कृत्य का खुलासा करती है। वह राल गिराती कामनाओं से मुक्त, प्रार्थनाओं से परे मानवमुक्ति की लालसाओं का मंच बनना चाहती है। कवि चाहता है–

मिट्टियों में हवा में आकाश में जल में जड़ें फूटें/ मेरी स्वप्न तरु कविता की/ अजेय उज्ज्वलता में हो/ मेरी आत्मा की प्रदीर्घ मानवीय लय/ बसेरा करें उसमें/ मुक्ति की लालसाएँ और उद्यम। (इच्छाएँ, पृ. 58)

ऐसी पवित्र इच्छाओं के धनी पंकज सिंह में यथार्थ को अपनी तरह से बरतने का माद्दा है। वह यथार्थ के निरूपण में भाषा के किसी भी नाटकीय अवयव, छल से बचने का यत्न करते हैं। उन्हीं के शब्द बरतते हुए कहें तो उनमें भाषा और संघर्ष की अनेक छवियाँ हैं–जीवाश्मों से कढ़-कढ़ कर आती और प्रेम की निर्विघ्नता के बिसरे स्वप्न जीवित करती। कवि भाषा और शब्दों के इस चाकचिक्य में उन कुछ पुराने शब्दों में भरोसा टिकाता है जिनमें उसके सपनों की साँसें बसी हैं। पंकज सिंह की कविता में आँखिन देखी और अनुभव-पगी दृश्यावलियाँ हैं। 'सुनामी, गाड़िये' जैसे जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों वाली कविताओं के अलावा यहाँ अनेक कविताएँ जैसे कवि की ओर से एक खुला वक्तव्य हैं। भाषा, कविता, समाज और संस्कृति के इलाके में व्याप्त भ्रमों, धुँधलकों

और विस्मयों को चीरती-उधेड़ती कवि की चेतना बार-बार अपनी ओर लौटती है। वह कभी आत्मगाथा की चादर ओढ़े अपने अनुभवों की एक-एक सलवट का हिसाब देती हुई दिखती है तो कभी भाषा में छल करती नाटकीयता, पीड़ा को उत्सव में बदलती भंगिमाओं और दुष्चक्र में घिरे स्रष्टा के करतबों का विरोध करती हुई दृष्टिगत होती है–

संताप के धागों से ही बुनता है वह एक चादर/ बेहद झीनी और ढँकता है अपनी मनुष्योचित पीड़ाएँ/ तुम्हारी मुक्ति और अभिमान के लिए/ (शायद वह कवि तेरा, पृ. 52)

पंकज सिंह इन कविताओं में अपने मिजाज की भी तमाम तस्वीरें उकेरते हैं। 'लोग पहचान लेते हैं', और 'कि गए' में पंकज सिंह का अपनापन बोलता है–पिता के कामरेडी स्वभाव से अपने को सहबद्ध करता और उनकी स्मृतियों को सँजोता। इसी तरह 'भले कुछ उदास' कविता में भी आत्मकथ्य की ही छाया है। बाहर से कवि-छवि के प्रचलित चोले से अलग दिखने वाले पंकज सिंह के भीतर कविता के इतने गहरे और मार्मिक स्रोत छिपे हैं, इसका साक्षात्कार तब होता है जब हम उनकी कविताओं के अंत:करण की सीढ़ियाँ उतरते हैं। कविता के लिए जिस तरह की नोक-पलक दुरुस्त भाषा और संयमित वाचिक स्थापत्य जरूरी है, पंकज सिंह के यहाँ उसकी सर्वोत्तम छवियाँ मिलती हैं। इतने संश्लिष्ट, बहुस्तरीय, रूपक और बिम्ब बहुत कम कवियों में देखे जाते हैं। पंकज सिंह चाक्षुष बिम्बों की निर्मिति के धनी हैं। *किसिम किसिम की हरीतिमाएँ बुलाती थीं, दमकता है जीवन उसके हृदय के पास, कामना और उम्मीद पर फैल जाती है पपड़ियाँ, उसकी आँखों में महाशंख अंधकार हैं, राख-सी झरती नीरवता, धूल में मिलते अभिलाषाओं के कंकाल, निष्कासित जल करुणा की सदानीरा का, जहाँ शब्द श्लथ पड़े थे सारांश खोकर आत्म-विसर्जन के लिए, तुममें छिपी थी आग महज एक रगड़ की प्रतीक्षा में, जैसे प्रयोगों से यह बात कही जा सकती है कि वे स्पंदित कर देनेवाली भाषिक ऐंद्रियता से अपनी कविताओं का ताना-बाना बुनते हैं और एक उत्तरदायी कवि होने का परिचय देते हैं। वे सूचियों के प्रबंधन में निष्णात लोगों से अपने को बख्शने के लिए कहते हैं तथा अपने को मामूली लोगों के पड़ोस में देखना चाहते हैं। वे मामूली आदमी में छिपी आग की संभावना को पहचानने वाले कवि हैं जो जानते हैं कि महज एक रगड़ भर से उस शख्स में आग पैदा हो सकती है। वे कविता की जिम्मेवारी को स्वीकारते हैं तथा उनका मानना है कि यह चोट खाती कविता ही है जो सुंदरता और प्रेम को निस्सार करते आततायी समय को कटघरे में खड़ा कर देती है। एक संकोची किस्म की आकांक्षा की आभा में दीप्त कविता पर उन्हें भरोसा है। वे कहते हैं–* सुगबुगाती है चुप-चुप सी कोई आकांक्षा दंतहीन किलक लिए/ मेरी भाषा के स्वप्नभरे अंधकार में। (अंधकाराएँ, पृ. 86)

कविता की इस संकोची और उत्तरदायी छवि के बावजूद हिन्दी को लेकर उनकी चिंता रघुवीर सहाय के नक्शेकदम पर ही चलती दीखती है। अपनी हिन्दी के लिए कविता में उनका कहना कुल मिलाकर यही है कि यह चाहे जितनी अनुपयोगी हो, जय-जयकार कराने वाली भाषा यही है। सीधे अर्थों में पंकज का मानना है कि कवियों के बीच एक ऐसी जमात भी है जो शासकों को खुश करनेवाली कविताएँ लिखने में मशगूल है। गोया अक्सर वह भाषा और पीड़ा के बीच कलात्मक परदे लटकाते और इनकार की जगह चापलूस मुस्कानें बिछाते हुए देखी जाती है। हिन्दी पट्टी के वैचारिक दारिद्रय पर बराबर बहसें होती रही हैं। भाषाओं के कुनबे में आखिर हिन्दी में ऐसा क्या है जो राजभाषा पद पर विराजमान होते हुए भी अक्सर यह गम्भीर विमर्शों से विमुख मसखरों, चापलूसों और निखिध चाकरी बजाते लोगों के मनोरंजन और हास-उपहास का उपक्रम बन गई है। याद आती है उदय प्रकाश की वह कविता–'एक जो भाषा हुआ करती है,' जिसमें उदयप्रकाश ने हमारे समय में हिन्दी और हिन्दी के प्रभामंडल में बजबजाती व्यवस्था का एक ऐसा चित्र उकेरा है, जिसे देख-पढ़कर हृदय शर्म और विक्षोभ से भर उठता है।

पंकज की कविता अश्लील उत्सवों पर चाबुक की तरह पड़ती है। जहाँ सत्तावानों की खिदमत में लगी व्यवस्था पर पंकज बार-बार अपनी कविताओं में झुँझलाहट प्रकट करते हैं, वही इससे अलग अपनी हिकमत, ईमानदारी और अकिंचनता के सहारे आगे बढ़ते तथा अडोल आस्थाओं वाले मनुष्यों की सराहना वे अपने लोग शीर्षक कविता में खुलकर करते हैं–'वे बेपरवाह रहते हैं क्रूरता और दुश्वारियों से/ उन्हें घबराहट से नहीं भरता लिपी-पुती भाषा का जादू/' जब वे कहते हैं, पुकारता हूँ मैं जीवन को जीवन की ओर तो ऐसा कहने के पीछे पंकज सिंह के भीतर विक्षोभ से भरी हताशा की कोई छाया नहीं दीखती। जबकि 'नहीं' के पूरे स्थापत्य में विक्षोभ, प्रतिरोध और दृढ़ता के अभिप्रायों से भरी ऐसी अभिव्यक्ति सामने आती है जो विचलनों, प्रलोभनों का निषेध करती हुई अपूर्व शब्द-संयम का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

पंकज सिंह की यह सामर्थ्य उन्हें आठवें दशक के कवियों के बीच विरल बनाती है। भाषा को तोड़ने, रचने और गढ़ने की जैसी समझ पंकज सिंह में है, कविता में ऐसी कोशिशें कम मिलती हैं। पंकज सिंह मनुष्यता के आखिरी छोर पर खड़े व्यक्ति की जय बोलते हुए कविता की अद्वितीय राह पर चलते दीखते हैं जो किसी भी तरह के उत्सव, स्वांग और शक्ति-प्रदर्शन का हिस्सा बनने तथा आमोद-प्रमोद की तूती बजाने से इनकार करता है। फिर भी यह कैसी विडम्बना है कि उन्हें काव्य-चर्चाओं में अक्सर अलक्षित रखा गया है–यह संग्रह साहित्यिक दुरभिसंधियों के विरुद्ध कवि का प्रत्युत्तर भी है।

उन्हें ऐसी कविता महज नकली गाना लगती है जिसमें फूल हों, शहद हो, दिपदिपाती रोशनियों की भरमार हो, कविता में पूँजी के खेल का प्रहार न हो। वे चाहते हैं कि कविता में प्रतिरोध का रसायन बरकरार रहे, भूमंडलीकृत पूँजी के बसंत का प्रतिकार हो, ताकतवरों की आँखों में आँखें डालकर उनकी नीयत को ललकारती 'नहीं' कहने की इच्छा पुनर्जन्म लेती रहे। यद्यपि उनकी भाषा में आम बोल-बतकहियों का शब्द-संसार ही प्रबल दिखता है किन्तु अनेक जगह वे कथ्य के मुताबिक शब्दों, पदों में तोड़-मरोड़ और क्लासिकी का संधान भी करते हैं। उनकी शब्दावली पर गौर करें तो *अमर्ष, श्लथ, अभ्यागत, पवित्र हठ, तपती प्रगाढ़ता, गरिमामय दुष्चक्र, क्लान्ति, निष्पाप अभिमान, नीरव हाहाकार, प्रकाशित जल, अजेय उज्ज्वलता, स्मृति-आवर्त, क्षमा याची, नीलपीतरक्तपुष्प, अम्लान, प्रतिच्छायित, निर्वर्ण फैलाव* और *नतग्रीव* जैसे शब्द भी आए हैं जिनसे उनकी कविता अर्थवती होती है। पंकज सिंह भाषा के वाचिक वैभव में रमते हुए भी शब्दों के प्राचीन कुल-गोत्र तक जाते हैं और प्राचीनता और आधुनिकता की महक से भरे ऐसे शब्द खोज लाते हैं जिनसे हमारी कविता थोड़ा अधिक द्युतिमान, उत्तप्त और मानवीय हो उठती है।

नहीं/ पंकज सिंह/ राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली/ मूल्य : रु. 175/-

जी-1/506ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

कविता

पुरुष-सत्ता से सार्थक प्रतिवाद

अतुल कुमार तिवारी

अर्से से पढ़ना-लिखना छूटा हुआ था कि विगत दिनों राजकमल से प्रकाशित सुमन केशरी की कविताओं का पहला संकलन 'याज्ञवल्क्य से बहस' हाथ लगा, जिसे एकबारगी पढ़कर ही दम लिया। पुस्तक के पार्श्व पर गुरुवर केदारनाथ सिंह ने ठीक ही रेखांकित किया है, ''इस पुस्तक के शीर्षक ने ही मुझे आकृष्ट किया–'याज्ञवल्क्य से बहस'। वस्तुत: यह बहस रखने का विचार ही पूरे संग्रह के 'टोन' को निर्धारित करता है और शायद यही बात इसे अन्य संग्रहों से अलग भी करती है।''

मूलत: यह नारी-अनुभवों पर आधारित कविताओं का संकलन है। इसमें किसी वाद की 'बू' नहीं, बल्कि यथार्थ जीवन की खुशबू है, जो इस संकलन का सबसे सुखद पक्ष है। पाँच उपशीर्षकों में विभाजित संकलन के 'एक निश्चित समय पर' नामक खंड में स्त्री-जीवन के दैनन्दिन घटनाओं से नि:सृत कविताओं को रखा गया है। यहाँ 'रोजी' एवं 'बीजल' के बहाने प्रेम के बदले में समाज से स्त्रियों को मिलनेवाले प्रतिदान का खुलासा किया गया है–

'कोरी चुनरिया-सा/ औरत का जीवन/ पलभर में दाग लगे/ पलभर में खोंच।'

इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार कवयित्री ने सुदीर्घ सामाजिक स्मृति या मुहावरों को कविता में ढाला है।

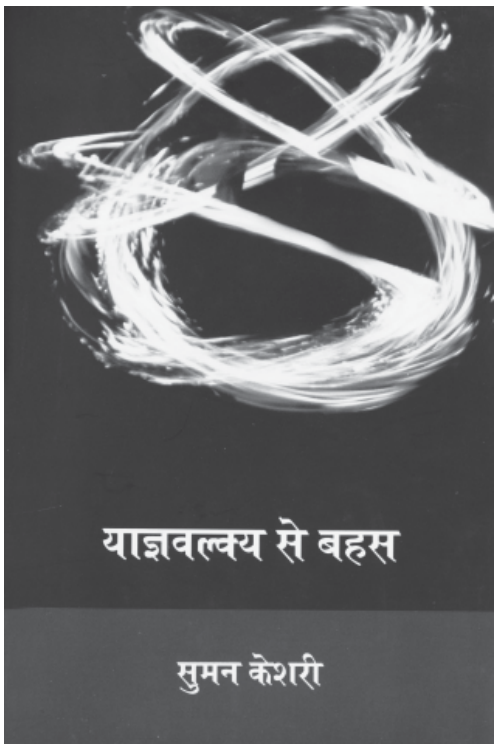

मिथकों में आवाजाही हिन्दी कविता की खास खूबी है पर यहाँ भी कथ्य, प्रतीक एवं चित्रण की पृथक शैली पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है। यह सिर्फ इतिहास-पुराण नहीं, बल्कि वर्तमान की भी याद दिलाता है, जहाँ सभी लोहे के पुतलों में बदल गए हैं। इसी मनोदशा में कवयित्री ने अपनी संस्कृति एवं परम्परा का परीक्षण किया है।

'इतिहास गवाह है कि मैंने केवल कुछ प्रश्न उठाए,/ कुछ शंकाएँ और जिज्ञासाएँ/ और तुमने मुझे नाम ही से वंचित कर/ दिया।' ('द्रौपदी', पृ.15)

यहाँ सिर्फ स्त्री के विशेषण बन जाने को ही चिह्नित नहीं किया गया है, वरन् 'राम' के द्वंद्व एवं व्यथा का भी चित्रण किया गया है–

'नियमों से बँधा विवेक/ बूझ न पाया सत्य प्रेम का/ रह गया बस/ खंड-खंड सत्य/ वन का/ राज का/ केवल वेदना अखंड/ प्रेम के अपमान की।'

जीवन और कविता में अनूठे संतुलन की कला का निदर्शन कवयित्री की अपनी विशेषता है। उच्चपदस्थ केंद्रीय सेवा एवं घर-परिवार की जिम्मेदारियों से नि:सृत तिक्तता-बोध भी अनेक कविताओं में परिलक्षित होता है। अतीत-वर्तमान, स्त्री-पुरुष, सृजन और दायित्व आदि विरोधी भाव-भूमियों पर उन्होंने अपनी कविताओं का वितान खड़ा किया है। 'संतुलन' नामक कविता में 'सृजन के बीहड़ों' में इसी अद्‌भुत सामंजस्य को उकेरा गया है। अकारण ही नहीं शुक्लजी 'विरुद्धों के सामंजस्य' को श्रेष्ठ कविता की कसौटी मानते हैं।

वर्तमान की चुनौतियों से कटकर कोई भी रचना महान नहीं हो सकती। संकलन की अधिकांश कविताएँ वर्तमान से मुँह फेरकर नहीं, बल्कि उससे मुखामुखम करते हुए रची गई हैं। 'फौजी' कविता में जहाँ एक तरफ सामान्य सैनिक का निजी सुख-दुख सामने आया है, वहीं 'आज कुँवर की सवारी निकल रही है' कविता किसी नेता या अफसर के सरकारी दौरे की याद दिलाती है। 'तुम्हारी याद' शीर्षक खंड में प्रेमपरक छोटी और बड़ी कविताएँ हैं, परन्तु यहीं पर 'राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल' जैसी कविता निराला की काव्यभाषा की याद दिलाती है, जिसमें रोशनी की कहानी बयां की गई है। उदाहरण-

'कि प्रेम देह से हो, या देव से/ मनुष्य से हो या ईश्वर से संशयों से घिरा रहता है।/ साधना तलाशता है/ समाज के बंधनों को तोड़ता है/ मर्यादाओं को लांघता है....'

अंतत: लेकिन अतिमहत्वपूर्ण मुद्‌दा जो संकलन में आद्यंत अंतर्धारा की तरह देखा जा सकता है, वह है- 'पुरुष सत्ता से प्रतिवाद'। याज्ञवल्क्य स्थापित पुरुष सत्ता के प्रतीक हैं। यहीं से संकलन का शीर्षक लिया गया है। दरअसल यह बतकही की कविता है। अत: भाषा भी विषय के अनुकूल ढलती गई है। तर्क-वितर्क की शैली में शब्द-चयन स्वयं ही अर्थ-गाम्भीर्यपूर्ण एवं सजग बन पड़ा है। 'बेटी के लिए एक कविता' में कवयित्री लिखती है-

यह कविता मैं तेरे लिए ही रच रही हूँ/ तेरे भाई को मेरी बातें शायद कुछ असहज लगेंगी/ क्योंकि उसके लिए शब्द सहज ग्राह्य हैं/ और अर्थ परम्परापोषित/ वंशबेलि की निरन्तरता का उद्‌घोषक/ 'संसार' का केंद्र है वह।

इस पुरुष वर्चस्व का सार्थक प्रतिवाद करना ही इन कविताओं का अभिप्राय है। कुल मिलाकर यह संकलन सुपाठ्य एवं संग्रहणीय ही नहीं है, बल्कि समकालीन कविता की दुनिया में एक बड़ा हस्तक्षेप भी है।

याज्ञवल्क्य से बहस/ सुमन केशरी/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/ मूल्य : रु. 200/-

---

31, टैगोर टाउन, इलाहाबाद

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खण्डों में

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति संवाद)

शोध एवं सम्पादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वैस्ट गोरख पार्क,

शाहदरा, दिल्ली-110032

भारत भूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र

[आधुनिक हिन्दी के आदिपुरुष, भारत भूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र का जीवनचरित 'हरिश्चंद्र' 1905 ई. में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर द्वारा पहली बार प्रकाशित किया गया था। इसके लेखक श्री शिवनंदन सहाय आरा जिले के अख्तियारपुर गाँव के निवासी थे और पटना न्यायालय में अनुवादक का कार्य करते थे। पुस्तक प्रणयन की प्रेरणा उन्हें खड्गविलास प्रेस के संस्थापक बाबू रामदीन सिंह से मिली। हिन्दी के आरंभिक दौर में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई और हिन्दी साहित्य के विकास में इसका अन्यतम स्थान है। भारतेन्दु-युग में स्थापित हिन्दी का सम्भवत: यह ऐसा प्रेस है, जिस पर धीरेन्द्रनाथ सिंह को पी-एच.डी. की शोधोपधि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से मिली। उनके शोध का विषय था-'आधुनिक हिन्दी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका'। लेखक श्री शिवनंदन सहाय ने अट्ठाइस परिच्छेदों में विभक्त इस जीवन में गहन शोधवृत्ति का परिचय दिया तथा विषय सामग्री जुटाने में अद्भुत अध्यवसाय का परिचय दिया। इस जीवनी से भारतेन्दु हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व के कई अनछुए प्रसंगों को चयनित कर प्रस्तुत किया जा रहा है।]

पुण्यभूमि भारतवर्ष में जहाँ देवगण भी मानव शरीर धारण करके वास करने की लालसा रखते हैं, काव्यकला को प्रसारित, सुकीर्ति को विस्तारित एवं भारतवासियों को देशहितकर कार्यों में प्रवृत्त करने ही के लिए श्रीमती पार्वती देवी के पवित्र कोख से विद्या निधान, महागुणवान, हरिभक्त, गणनायक समान धाव हरिश्चंद्र का जन्म हुआ था। परम विद्यानुरागी कवि कुल भूषण बाबू गोपालचंद्र के यह ज्येष्ठ पुत्र थे। मिति भाद्रपद शु. 7 सं. 1907 (9 सेप्टेम्बर, 1850) के चंद्रवार को श्री गौरीपति धाम (काशी नगरी) में इनका जन्म हुआ था।

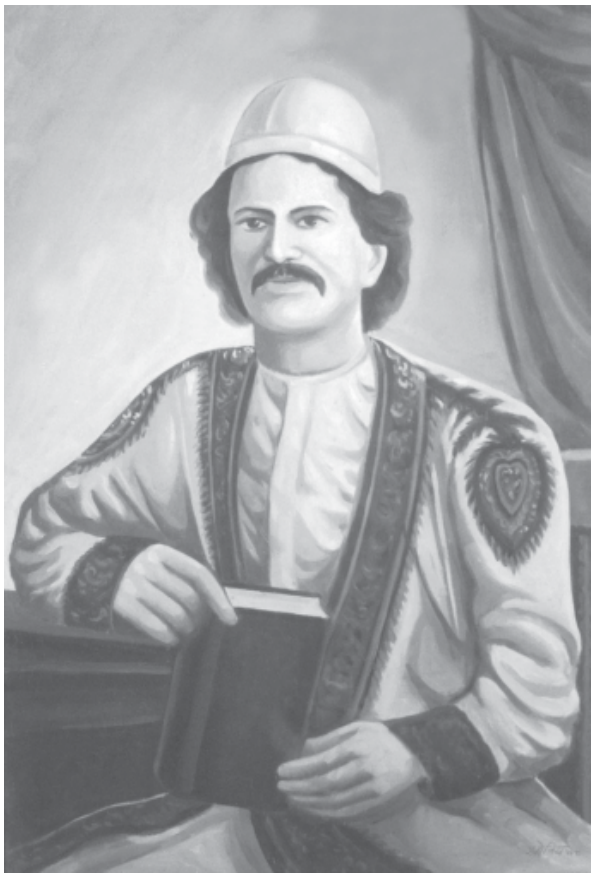

पितृकुल के समान हरिश्चंद्र का मातृकुल भी परम प्रतिष्ठित एवं विद्यानुरागी था। इनके मातुल और मातामह फारसी भाषा के प्रवीण पंडित थे। अर्थात् उभय कुल से विद्याधन इनके बाँटे पड़ा था।

हरिश्चंद्र एक होनहार बालक थे और होनहार बालकों में जो बातें प्राय: पाई जाती हैं, इनमें भी आदि से ही वे सब बातें प्रकट होने लगीं।

इनकी शिक्षा बाल्यावस्था ही से प्रारम्भ हुई। जिस गुरु से इन्होंने अक्षराम्भ किया था उनका नाम पंडित ईश्वरी दत्त तिवारी था। फारसी के शिक्षक मौलवी ताजअली थे और अंग्रेजी इन्होंने नंदकिशोरजी से शुरू की थी जो विलायत जाकर वहीं परमधाम को सिधारे। राजा शिवप्रसाद के यहाँ जो स्कूल था कुछ दिन उसमें और कुछ दिन ठठेरी बाजारवाले महाजनी स्कूल में पढ़े थे।

इनको 5 वर्ष की अवस्था में इनकी पूज्य माता का परलोक हो गया था और इनकी 8 वर्ष की अवस्था होने पर इनके पूज्य पिताजी भी 27 वर्ष की वय में छोटे बालकों की ओर बड़ी सम्पत्ति को छोड़कर स्वर्गधाम सिधारे। पिता के स्वर्गवास के समय इन पर तथा

इनके कनिष्ठ भ्राता बाबू गोकुलचंद्र पर शीतला का प्रकोप था। अंतकाल में उन्होंने दोनों पुत्रों को सामने बुलाकर और देखकर विदा किया था। युवा होने पर हरिश्चंद्र लोगों से प्राय: कहा करते थे कि ''पिताजी की वह मूर्ति अब तक मेरी आँखों के सामने विराजमान है। तिलक लगाये बड़े तकिये के सहारे बैठे थे। दिव्यकांति से मुखमंडल देदीप्यमान था। देखने से कोई रोग नहीं प्रतीत होता था।''

पूर्वोक्त घटनाओं से इन्हें माता-पिता का लाड़-प्यार और सुख कम प्राप्त हुआ, और बाल्यावस्था ही में पितृहीन हो जाने के कारण यह एक प्रकार से स्वच्छंद हो गए। तो भी कॉलेज में इनका नाम लिखाया गया। पढ़ने भी जाने लगे। कॉलेज में पान खाकर जाने का निषेध था। परन्तु इनको तो बचपन ही से पान खाने का व्यसन था, यह किसी का कहा कब सुननेवाले थे। किताब लेकर खूब पान खाकर स्कूल की राह लेते, परन्तु रास्ते में अपने रामकटोरा बाग के तालाब पर भलीभाँति कुल्ला करके तब कॉलेज के कमरे में प्रवेश करते थे।

पढ़ने की भी वही दशा थी। मन देकर कभी नहीं पढ़ते। सर्वदा चंचल चित्त रहते थे। पर बुद्धि तो ईश्वरप्रदत्त थी। जिसकी ओर सहपाठी दिनभर घोख कर भी याद न कर सकते वह विषय इन्हें दो-एक बार के सुनने और पढ़ने ही से याद हो जाता था और सर्वदा परीक्षा उत्तीर्ण भी होते थे। इससे इनके मास्टर लोग भी चकित रहते थे। इसी रीति से यह कुछ दिन कॉलेज में अंग्रेजी और संस्कृत पढ़ते रहे। 11-12 वर्ष की अवस्था में संस्कृत इतना जान गए थे कि बात की बात में समस्यापूर्ति कर देते थे। कविता की ओर बालपन ही से झुकाव था। यत्न होने पर भी नियमित रीति से इनकी शिक्षा नहीं हुई और पढ़ने में जैसा चाहिए इन्होंने चित्र नहीं दिया तथापि विद्योपार्जन में त्रुटि नहीं हुई।

बहुत थोड़े दिन बनारस क्वींस कॉलेज में रहे और यह अच्छी बात हुई कि केवल थोड़े ही दिन तक रहे। नहीं तो कौन जानता कि एक अर्द्धशिक्षित डिपुटी मजिस्ट्रेट का बिना बिरीफ़वाला एक वकील पाकर यह देश एक उत्तम कवि को न खो बैठता।

पिता के परलोकगमन के अनंतर 14 वर्ष की अवस्था में अर्थात् अगहन सं. 1920 में काशी के शिवालय घाट के सुप्रसिद्ध रईस शाहजादों के महाजन लाला गुलाबराय की कन्या श्रीमती सन्नोदेवी से बड़ी धूमधाम के साथ इनका विवाह हुआ।

बाल्यावस्था में यह बड़े ही चंचल थे। शाखामृग की भाँति पतले 2 मुंडेरों पर घूमा करते थे, वृक्षों की फुनगी तक चढ़ जाते, दौड़ती हुई गाड़ी पर चढ़ते और उस पर से कूदते थे। पंचक्रोश में एक बार कदवा (कर्दमेश्वर) से जो दौड़े तो ढाई-तीन कोस पर भीमचंडी जाकर दम लिया।

इनकी दाई कालीकदमा इन्हें बहुत प्यार करती थी। यह भी उसे चाहते थे और युवा होने पर भी उससे बहुत डरते थे। उसी समय के गंगू नामक एक कठोर नौकर के साथ भी यही बात थी। उससे बहुत दबते थे और सदा उसका सम्मान करते थे।

यह बाल्यकाल ही से कौतुकप्रिय थे। अंधेरी गली में अपने घर के पीछे फासफरस से दीवारों पर ऐसा-ऐसा विचित्र चित्र बना देते थे कि लोग देखकर डर जाया करते थे।

हमको यह बात पूरी रीति से ज्ञात नहीं हो सकी कि इनके बालसखा कौन-कौन थे। परन्तु इतना मालूम हुआ है कि बिसवां जिला अलीगढ़ के ठाकुर गिरिप्रसाद सिंह एवं छपरा जिलांतर्गत मसरख के बाबू देवीप्रसाद इनके स्कूल के साथी थे। सहपाठी थे या नहीं यह हम नहीं कह सकते।

ठाकुर गिरिप्रसाद जी जाति के जाट विद्यारसिक एवं परम वैष्णव थे। हरिश्चंद्र तथा ठाकुर साहिब में सर्वदा मित्रता बनी रही।

ईश्वर ने हमारे चरित्रनायक को बालकपन ही में यात्रा का भी सुअवसर दिखलाया था। 11 वर्ष की अवस्था में इन्होंने सपरिवार जगदीश की यात्रा की थी। सम्वत् 1923 (1866 ई.) में यह बुलंदशहर तथा कुचेसर गए थे। सं. 1928 (ई. 1871) में यह फिर यात्रा को निकले थे। उस यात्रा में यह कहाँ-कहाँ गए थे उसका वर्णन इन्होंने इस छप्पे में किया है-

'प्रथम गये चरणाद्रि कान्हपुर को पगधारे।
बहुरि लखनऊ होइ सहारनपुर सिधारे॥
तहँ मनसूरी होइ जाइ हरिद्वार नहाये।
फेर गये लाहौर सुपुनि अम्बरसर आये॥
दिल्ली दै ब्रज बसि आगरा देखत पहुँचे आयघर।
तैंतीस दिवस में यातरा यह कीन्ही हरिचंदबर॥'

इसी साल जून के महीने में यह इलाहाबाद हिन्दीवर्धिनी सभा में बुलाये गए थे और हिन्दी की उन्नति पर एक पद्यबद्ध लेक्चर एक ही दिन में लिखकर पढ़ा था जो 7 पृष्ठ में छपकर तैयार हुआ है। सं. 1936 (1879 ई.) में शरयूपार की यात्रा हुई थी। उस यात्रा में केम्प हरैया बाजार तक पहुँचने में राह में जो-जो कष्ट हुए उनका वर्णन इन्होंने लिखा है। वहाँ से बस्ती गए। लिखा है, ''....वाह रे बस्ती! अगर बस्ती.... इसी को कहते हैं तो उजाड़ किसको कहेंगे।'' वहाँ से मेंहदावल गए। इसी साल यह जनकपुर भी गए थे। उस यात्रा के वर्णन में इन्होंने लिखा है, ''राह में रेल में कुछ कष्ट हुआ क्योंकि सेकेंड क्लास में तीन-चार अंगरेज थे।'' 1880 के आषाढ़ मास में यह भी काशी नरेश के साथ वैद्यनाथ यात्रा को गए थे। 1882 ई. के मार्गशीर्ष में यह मेवाड़ गए थे जिस यात्रा का वर्णन इन्होंने बहुत लम्बा-चौड़ा लिखा है। मेवाड़ पहुँच कर बाबू साहिब ने 108 श्रीमान् महाराजाधिराज महाराणा सज्जन सिंह देवबहादुर के चरण-कमलों का दर्शन किया। नवम्बर 1884 ई. में यह बलिया में बोलाए गए थे। इनके व्याख्यान के निमित्त जो नोटिस बंटी थी उसमें इन्हें 'शायर मारूफ़ बुलबुले हिन्दुस्तान' लिखा था। इन्होंने 'बलियाइन्स्टिट्यूट' में 'भारतवर्ष का कैसे सुधार होगा' इस विषय पर व्याख्यान दिया था। इस समय राबर्ट साहिब बहादुर जिलाधीश सभापति के शासन पर सुशोभित थे। साहिब बहादुर ने इनकी बड़ा प्रशंसा की और बलिया में पधारने तथा व्याख्यान देने के लिए इनको बहुत धन्यवाद दिया। मुंशी बिहारी लाल डिपुटी कलक्टर को धन्यवाद देते हुए साहिब ने कहा था कि आप ही की छाया से मेरा एक ऐसे सज्जन सुयोग्य पुरुष से साक्षात् हुआ। पीछे बाबू साहिब के साथ साहिब बहादुर ने पत्र-व्यवहार भी जारी रखा। इसी अवसर पर बलिया में 'सत्य हरिश्चंद्र' तथा 'नीलदेवी' का अभिनय हुआ था। इस अभिनय के सम्बन्ध में एक अंग्रेजीपत्र के संवाददाता ने लिखा था कि ''हिन्दी के ये दोनों उत्कृष्ट नाटक खेले गए थे जिनके

रचयिता सुख्यात काशीनिवासी बाबू हरिश्चंद्र हैं। नाटक मंडली के लिए यह एक बहुत लाभदायक बात थी कि बाबू साहिब स्वयं उपस्थित थे। जिस समय सूत्रधार ने कवि का नामोच्चारण किया दर्शक लोग आकाशभेदी करतलध्वनि करने लगे। इससे विदित होता है कि इस प्रांत में बाबू साहिब कैसे सर्वजन-प्रिय हैं और लोग इनका कितना सम्मान करते हैं।'' बलिया ही की यात्रा इनकी अन्तिम यात्रा थी। पूर्वोक्त स्थानों के अतिरिक्त, डुमरांव, पटना, कलकत्ता, इलाहाबाद, हरिहर क्षेत्र आदि स्थानों में यह प्राय: आया-जाया करते थे।

बहुत-से लोग यह जानने के लिए उत्कंठित होंगे कि लिखने-पढ़ने के सिवाय बाबू हरिश्चंद्र और क्या किया करते थे, इनका विशेष अनुराग किन-किन बातों में था और कौन-कौन वस्तु इनकी अधिक पसंद थीं।

यद्यपि इनको एकांत पसंद था और कहीं पर एकांत मिल जाने से बड़े प्रसन्न होते थे, तथापि ऐसा अवसर इनको बहुत कम हाथ लगता था। लोग सदा घेरे ही रहते थे और यह इधर-उधर भ्रमण भी किया करते थे। पहिले रात को प्राय: बाग में रहते थे, फिर दूसरे मकानों में जाते थे। सवेरे कोठी आते थे। भोजन करके दोपहर में फिर निकलते थे। कभी किसी प्रेस में, कभी गोलघर के गोस्वामी कन्हैयालाल के निकट जाते, कभी राजा भरतपुर से मिलते, कभी बाबू ऐश्वर्य नारायण सिंह से भेंट करते, किसी आराम वा उद्यान की बहार देखते, अथवा रामनगर जाकर श्री काशीनरेश का दर्शन करते। संध्या को प्राय: बाबू बालेश्वरप्रसाद के यहाँ नार्मल स्कूल में जमावड़ा हुआ करता था। परन्तु जहाँ कहीं जाते वहाँ पर लिखने-पढ़ने की भी कुछ चर्चा अवश्य रहा करती थी।

यदि पूछा जाय कि अन्य किन-किन बातों में इनका विशेष अनुराग था तो इसका उत्तर, यही होगा कि संसार के सौंदर्य मात्र से अनुराग था। प्रकृति की सुंदरता, वस्तुओं की सुंदरता, कविता की सुंदरता सभी पर न्यौछावर होते थे। राग, वाद्य, रसिकसमागम, देश-देश और काल-काल की विचित्र वस्तुएँ, पुस्तक, चित्र इत्यादि इनके खास पसंद की चीजें थीं। खेल-तमाशा का भी व्यसन था, परन्तु उसमें भी कुछ न कुछ उपदेश, कविता और नयापन रहा करता था।

संगीत के प्रेमी होने के कारण इन्होंने प्रसिद्ध वीणाकार हरीराम वाजपेयी को 50 रु. मासिक पर बहुत दिन तक अपने साथ रखा था। स्वयं भी कीर्तन करते थे। कंठ सुरैला था। ताल और झांझ बहुत अच्छा बजाते थे।

बुढ़वा मंगल के अवसर पर खूब मंगल मनाते थे। ऐसा उचित भी था, क्योंकि इस मेला का एक प्रकार से इनके घर से जन्म हुआ था। इनके पूज्यपाद पितामह एवं पिता के समय में भी इस मेला में भारी आनन्दोत्सव हुआ करता था।

इसके अतिरिक्त इनको कबूतर इत्यादि का कौतुक भी प्रिय था। शतरंज, अच्छी खेलते थे। 'हरिश्चंद्रमैगजीन' में शतरंज के चमत्कारी नक्शे का छपना इसका प्रमाण है।

यह ताश के भी खिलाड़ी थे। वैष्णवी ताश के प्रचार की इच्छा रक्खे थे। पान, बीड़ी, इंट तथा हुकुम इन रंगों के स्थान में शंख, चक्र, गदा, परम रक्खा था।

अंग्रेजी पढ़नेवाले सभी जानते होंगे कि विलायत में पहिली एपरिल को लोग होली के समान आनन्द मनाते हैं। मित्रों के साथ हँसी-दिल्लगी करना, कोई अनोखी उक्ति से लोगों को मूर्ख बनाना तथा धोखा में लाना बुद्धिमानी समझी जाती है। हरिश्चंद्र जी भी कभी-कभी इस प्रकार की हँसी-खेलों से लोगों को लज्जित करके आनन्द उठाते थे।

एक बार इन्होंने यह नोटिस दे दी कि ''महाराज विजियानगरम की कोठी में अमुक समय एक योरोपदेशीय विद्वान सूरज और चाँद को प्रत्यक्ष भूमितल पर उतार कर दिखला देंगे।'' उस समय बहुत से लोग इकट्ठे हुए और जब कुछ नहीं देखा तो अपनी मूर्खता पर सिर नीचे किए बगल खुजलाते घर गए।

एक बार यह छाप दिया कि ''एक बड़े प्रसिद्ध गवैए का काशी में आगमन हुआ है और हरिश्चंद्र स्कूल में वह अपना गाना सुना कर लोगों को आनंदित करेंगे।'' एक गुणी का मुफ्त का गाना सुनने कौन न जाय। हजारों मनुष्यों की भीड़ हुई। तब परदा उठा और एक व्यक्ति नाना प्रकार के रंगों से अपना मुँह चित्रित किए हुए, Fool's cap (गदहा टोपी) पहिने और उलटा तानपूरा हाथ में लिए नजर आया और गदहे की भाँति 'हेंपो हेंपो' करता रेंक उठा। यह रंग देखते ही सब लोग हँसते-दौड़ते लजाने से अपने-अपने घर लौट गए।

इन्हीं की सम्मति से पं. रामशंकर जी ने एक बार विज्ञापन दे दिया था कि एक मेम खड़ाऊँ पर चढ़कर रामनगर से गंगा पार होगी। फिर क्या पूछना था। गंगा के दोनों किनारे दर्शकों की भारी भीड़ लग गई और सब इंतजारी में संध्या तक गंगातीर पर जमे रहे कि वह गंगा पर भूमि के समान विचरण करनेवाली अब आती है, अब आती है, पर यहाँ तो बात ही दूसरी थी, आवे कौन? अंत में लोगों ने समझा कि वह 'एप्रिल फूल' का तमाशा था और सबके सब लजाने से घर लौट चले।

इन्होंने बादशाहों, आचार्य्यों, विद्वानों आदि के चित्र बड़े परिश्रम से संग्रह करके एक अल्बम प्रस्तुत किया था।

इन्होंने अत्यंत परिश्रम से बहुत द्रव्य व्यय करके बादशाहों के समय की चिट्ठियाँ एकत्रित की थीं जो अभी तक खड्गविलास यंत्रालय में वर्तमान हैं। उन चिट्ठियों को अन्य वस्तुओं के साथ इन्होंने 1884 ई. की महाप्रदर्शिनी में कलकत्ता भी भेजी थी।

इन्होंने प्राचीन सिक्कों तथा अशर्फियों का अमूल्य संग्रह किया था जिसमें काश्मीर के प्राचीन काल के भी सब सिक्के थे, परन्तु किसी लोभी ने उन सबको चुरा लिया। निज सकल सम्पत्ति के गँवाने से इनको जो खेद नहीं हुआ था वह खेद सिक्कों के खो जाने से हुआ।

इन्होंने अनेक प्राचीन एवं नवीन ग्रंथों को भी खोज-खोज कर बहुत द्रव्य व्यय करके एकत्रित किया था। 150 रु. देकर तो शेरिंग साहिब की कोई पुस्तक खरीदी थी जो बात साहिब के एक पत्र से ज्ञात होती है।

इन्होंने विलायत से हंगरी देश, सेंटहेलिना होप, इटली, चीन देश के फ्रांसिसी भाग का एवं अमेरिका देश का टिकट अपने मित्र पिन्काटसाहिब के द्वारा संग्रह किया था।

एक पत्र से विदित होता है कि इन्होंने निज पिता, पितामह, भ्राता का तथा अपना और कई लोगों का बड़ा-बड़ा फोटो बनवाने

के लिए भी पिन्काटसाहिब से निवेदन किया था। इनको फोटो का बड़ा शौक़ था। यह स्वयं भी अच्छा फोटो खींचते थे।

सारांश यह कि सुन्दर कपड़े, खिलौने, फोटो एवं अपूर्व-अपूर्व पदार्थों का यह सर्वदा संग्रह तथा आदर करते थे और इसमें भी इनका बहुत धन व्यय होता था, पर यही सब इनके दिल बहलाने को चीजें थीं।

इनका कद लम्बा और बदन एकहरा था, नाक सुडौल, आँखें छोटी थीं, कान अवश्य बड़े थे, उन्नत ललाट इनके भाग्यवान पुरुष होने की सूचना दे रहा था, घुघरारे कच साँवली-सलोनी सुरति की छटा बढ़ा रहे थे, वक्ष:स्थल भ्रमरावली के सदृश ललित केशों से शोभायमान था। इनकी मनभावनी मनोहर मूर्ति लोगों के मन को वैसे ही मोहित किए रहती थी जैसे इनके सद्‌गुण सबको सदा लुभाए रहते थे, और वैसे ही सुंदर शील स्वभाव लोगों को वशवर्ती बनाए रहा करता था।

जैसे इनकी सलोनी मूर्ति थी वैसे ही भोजन में भी इनकी नमकीन ही वस्तु अधिक प्रिय थी। पापड़ दालमोट इत्यादि बहुत रुचि से खाते थे।

इनका कलेजा बड़ा ही कोमल था। यह किसी का दु:ख नहीं देख सकते थे। पराये का दु:ख देखकर यह बहुत कातर हो जाते थे और यथासम्भव उसकी सहायता करते थे वरन् ऐसे ही अवसर में इन्हें द्रव्याभाव का कुछ खेद भी होता था।

1872 ई. के अक्तूबर में दक्षिण देशांतर्गत खानदेश तथा कई गाँवों में ऐसी वर्षा हुई थी कि गाँव का गाँव बह गया था। सैकड़ों घर गिर पड़े थे। सहस्रों मनुष्य एक संग नाश हो गए थे। अन्न वस्त्र सब वस्तु बह गई थीं। ईश्वर की कृपा से जिनके प्राण बच गए थे वे लोग भी यह-वस्त्रविहीन निरवलम्ब अनाथों की भांति क्षुधापीड़ित होकर कराल काल के मुखगह्वर में प्रविष्ट होते जाते थे। उस समय परम दयालुचित्त हरिश्चंद्र उनके दु:ख को सहन न कर सके। निज कोष से उन लोगों की सहायता करने के अतिरिक्त इन्होंने हाथ में दरियाई नारियल लेकर काशी नगर में भिक्षाटन द्वारा उन क्षुधापीड़ित मनुष्यों के लिए द्रव्य एकत्रित करके सहायता की थी।

एक बार जब काशी में ऐसी बाढ़ आई थी कि कई और पक्के मकानों को कौन पूछे पत्थर के घर भी धंसे जाते थे, लोग गाँवों पर चढ़-चढ़ कर जान की रक्षा कर रहे थे, सड़ी-सड़ी डेंगियों का किराया दो-चार रुपया हो जाने पर भी बहुतेरों को मिलती नहीं थीं, उस समय में इन्होंने दु:खी नगर निवासियों का क्लेश देखकर काशीनरेश से निवेदन करके श्री गंगाजी को विनयपत्र दिलवाया और बेघरवालों को नंदेश्वर की कोठरी में स्थान दिलवा कर शरण प्रदान कराया। उस समय के 'कविवचनसुधा' समाचार पत्र में लिखा था कि यदि बाबू हरिश्चंद्र काशिराज से न कहते और श्री महाराज सहायता न करते तो गेहविहीन लोगों का देह भूतल में रहना असम्भव था, सब गंगा माता की गोद ही में शयन करते।

गुम दान देना तो इनका सदैव का काम था। कभी किसी के पास लिफाफे में नोट रख कर भेज देते, कभी पुड़ियों में रुपया रख कर किसी को दे देते थे।

कितनों को फोटोग्राफ का सामान एवं जादू के तमाशे का सामान खरीद-खरीद कर दे देते थे कि जिससे बेचारे जीविका करके सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें।

जैसा वह पराए का दु:ख देकर दु:खी होते थे वैसे ही उन्हें पराए का सुख देखकर आनन्द भी होता था। राजा शिवप्रसाद के दरबार में सरकार से राजा के पद में सम्मानित किए जाने पर इन्होंने उसकी बधाई में एक सभा की थी। उसका विज्ञापन देखने से ज्ञात होता है कि वह सभा बहुत धूमधाम से हुई थी। गाना-बजाना, नगर में रोशनी, श्री विश्वेरनाथ का शृंगार आदि उत्साहपूर्वक किया गया था और भारी आनन्दोत्सव मनाया गया था।

एक बार श्री महाराज काशीनरेश को ऐसा नेत्ररोग हो गया था कि वह एक प्रकार से चक्षुजोतिविहीन हो गए थे। उसकी आरोग्यता के निमित्त अनेक उपाय होता रहा किन्तु कुछ फलदायक नहीं होता था। जब कलकत्तानिवासी डॉक्टर काली बाबू की चिकित्सा से उस रोग का सर्वनाश हुआ तब 1884 ई. में 'कारमाइकल लाइब्रेरी' में इन्होंने बड़े समारोह में सभा की और बड़ा ही आनन्दोत्सव मनाया।

28 नवम्बर, 1875 ई. में जब श्रीमान् महाराज काश्मीर का काशी में शुभागमन हुआ था तो उनसे बाबू साहिब स्वयं भी सम्मानित हुए थे और श्रीमान् से निवेदन करके इन्होंने 500 विद्वानों की सभा कराई थी जिसमें श्रीमान् ने तीन-तीन गिनी प्रत्येक विद्वान् को प्रदान किया था।

इनका शील भी सीमा से बढ़ा हुआ था। कोई इनकी कितनी ही हानि क्यों न करता यह उसको ध्यान में नहीं लाते थे, स्वयं कष्ट सह कर रह जाते थे।

भाई से बाँट-बखरा होने पर महाराज बेतिया के यहाँ से इनके हिस्से का 36000 रुपया आया था। उसको उन्होंने अपने एक मुसाहिब के पास रख दिया था। वह भलेमानुस एक दिन रोते-कलपते इनके पास आया और बोला कि ''रात हमारे घर चोरी हो गई। हम आपका रुपया रखकर अपना भी सर्वस्व गँवा बैठे'' और फूट-फूट कर रोने लगा। इन्होंने हँस कर कहा, ''यह गनीमत समझो कि चोर तुम्हें उठा न ले गए। जाने दो, गया सो

गया।'' इनके इष्ट मित्र कितना ही कहते रहे कि आप इस कुटिल को तंग करके किसी प्रकार अपना रुपया निकालिए। इन्होंने यही कहा ''बिचारा गरीब है, इसी से कमा खाएगा।''

यदि इनका शील सीमा से अधिक नहीं होता तो इनकी ऐसी दुरवस्था भी नहीं होती और लोग इनकी आँखों में धूली डालकर इस रीति से इनके धन से मोटे भी नहीं होते। इन्होंने कुछ दिन विलायती स्टेशनरी यथा अन्य वस्तु कलकत्ता एवं विलायत से मँगा कर घर ही पर बेचने का प्रबंध किया था। 'हरिश्चंद्र एंड फ्रेंडस' के नाम से उस कारोबार का विज्ञापन देखने में आया है। परन्तु उस कार्य की उन्नति का अवरोधक भी इनका यही शील हुआ। बहुत से लोग वस्तुओं को ले जाते और मूल्य देने का नाम तक नहीं लेते।

यह सदा शान्त एवं प्रसन्नचित्त रहते थे। इनमें क्रोध का लेश भी नहीं था, परन्तु यदि दैवात् कभी किसी कारण क्रोध आ गया तो उसका ठिकाना भी नहीं था। वह रोके भी नहीं रुकता था। जिन काशीनरेश के यहाँ स्नेह एवं दयापात्र थे, जिनसे यह सदैव द्रव्य सहायता और 100 रु. मासिक पाते थे, उनसे भी जब राजा शिवप्रसाद के कारण मन खटका तो फिर उनके दरबार में कुछ दिन जाना-आना भी बंद कर दिया।

हरिश्चंद्र बड़े सत्यप्रतिज्ञ थे, सत्य को धर्म मानते थे और निज हानि होते हुए भी सत्य से विचलित नहीं होते थे।

यह अत्यन्त ही नम्र एवं निरभिमानी थे, परन्तु जो इनसे अभिमान करता उसका सहन भी नहीं कर सकते।

जिस काम को बड़े उत्साह से उठाते थे उसी में फिर शिथिल हो जाते थे। इसी से इनके बहुत से ग्रंथ अधूरे रह गए और इन्होंने 'चंद्रावली नाटिका' में अपने को 'आरम्भशूर' कहलवाया है।

काम करने की यह दशा थी कि जब काम न करे बरसों न करें, जिस दिन करें शूर की भांति महीने भर का काम एक दिन में कर डालें। विलायती कवि स्काट के समान एक-एक बैठकी में एक-एक पुस्तक की रचना कर डालते थे।

मसखरापन तो नस-नस में भरा था, जो इनके सब लेख और ग्रन्थों ही से प्रगट है।

इनके नित्य कर्म के कार्य एवं खेल-तमाशे में भी नवीनता और कविता लगी ही रहती थी।

चिट्ठी-पत्रों के लिखने के निमित्त प्रत्येक वार के लिए भिन्न-भिन्न रंग के कागज पर भिन्न-भिन्न शीर्ष छपवा कर काम में लाते थे।

20 ही वर्ष की अवस्था में अर्थात् 1870 ई. में यह ऑनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए थे। जिस पर बंगाल के डॉक्टर राजेंद्र लाल मित्र ने इनको बहुत बधाई दी थी। इन्होंने इस पद को 1874 ई. तक धारण किया और उसी के लगभग 9 वर्ष तक यह म्युनिसिपल कमिश्नर भी रहे। अपने परोपकारक कार्यों में उन्हें कुछ बाधक समझ कर इन्होंने निज इच्छा से उन कामों को छोड़ दिया जिस पर श्री काशी के प्रसिद्ध रईस बाबू ईश्वरीनारायण सिंह जी ने इनको लिखा था कि ''क्या यह सच है कि आपने इस्तीफा दी? यदि ऐसा है तो आपने अच्छा न किया। हाकिम लोग आपकी तजबीज़ को बहुत ही पसंद करते हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ कोई आपके विरुद्ध कुछ नहीं कहता। यदि सम्भव हो तो इस्तीफा उठा लीजिए और हम लोगों को आनरेरी मजिस्ट्रेट की कचहरी से अपने समान एक सुजन साथी को न खोने दीजिए।'' यह उनका कहना बहुत ही ठीक था, किन्तु अब अधिक अवकाश रहने से इनको देशहितसाधन में अधिक सुविधा हुई।

निज विज्ञता तथा पांडित्य के कारण 1873 ई. से कई वर्ष तक पंजाब विश्वविद्यालय में एफ.ए. आदि परीक्षा में यह संस्कृत भाषा में परीक्षक नियुक्त हुआ करते थे।

1875 ई. में रशिया देशान्तर्गत सेंटपीटर्सबर्ग के सिनेट से रेविन्सो साहिब एक पत्र लेकर इनके पास आए थे। उसमें सिनेट की ओर से लिखा था कि ''यह महाशय हिन्दुस्तान, चीनी तथा जापान देश में विज्ञान एवं शिल्प सम्बन्धी बातों के अनुसंधान के लिए जाते हैं, आप इनको निज जानकारी का लाभ उठाने दीजिएगा एवं इस विषय में इन्हें सहायता प्रदान कीजिएगा।''

दिसम्बर 1875 ई. में जब महाराज जियाजी सेंधिया तथा महाराज रीवा काशी में विराजमान हुए थे तो उन लोगों ने इन्हें बुला-बुलाकर आदरपूर्वक इनसे भेंट की थी और इनका सम्मान किया था।

इसी महीने में भी महाराजा जोधपुर का जब काशी में शुभागमन हुआ था तो श्रीमान् ने इनको स्टेशन ही पर बुलाकर भेंट करके सम्मानित किया था।

1877 ई. में काशी पधारने पर श्रीमान् वाइसराय लार्ड लिटन ने काशीनरेश को तथा हमारे चरित्रनायक को स्वयं बुलाकर वार्तालाप का आनन्द उठाया था।

प्रिंस आव वेल्स के शुभागमन के समय इन्हें भी एक मेडल मिला था और विलायत में कुंआ खोदने पर जब श्रीमान् काशीनरेश को एक मेडल आया था तो श्रीमान् ने उनमें से एक इनको भी दिया था।

श्रीमान् मेवाड़पति श्री महाराजा सज्जन सिंह जी तो इन्हें इतना मानते थे कि एक बार अपने मंत्री को आज्ञा दी थी कि लिख दो कि ''बाबू हरिश्चंद्र जी इस राज्य को अपनी सीट समझें'' श्रीमान् काशीनरेश का क्या पूछना है। उनके तो यह बड़े ही स्नेहपात्र थे। सोमवार का दिन घातबार होने के कारण श्री काशिराज उस दिन किसी से भेंट नहीं करते थे। एक समय बाबूसाहिब ने भी उन्हें लिख भेजा था कि सोमवार होने के कारण हम आज आपके दर्शन का आनन्द लाभ नहीं उठा सके। उसके उत्तर में श्रीमान् काशीनरेश ने यह दोहा लिखा था-

'हरिश्चंद्र को चंद्र दिन, तहां कहां भटकाव।
आवन को नहिं मन रह्यो, दूहो बहाना भाव॥'

इस दोहे से निस्संदेह श्रीमान् का स्नेह बाबूसाहिब पर प्रगट हो रहा है। श्रीमान् बाबूसाहिब को प्रतिमास 100 रु. भी दिया करते थे।

इनके शुभगुणों से मोहित होकर रीवांधीश श्रीमान् रघुराज सिंह श्रीमान् राजा मांडा, ट्रांवाकोर के श्रीमान् युवराज इत्यादि इन पर विशेष प्रेम रखते थे।

श्रीमान् विजयानगरम, राजा वेंकटगिरि, राजा छत्रपुर तथा श्रीराधाप्रसाद सिंह महाराज डुमरांव ये लोग तो इनके घर जा-जा कर इनसे मिलते थे। महाराज विजयानगरम् ने एक

बार पाँच हजार देकर इनका मान-वर्धन किया था एवं महाराज डुमरांव प्रतिवर्ष सहस्र मुद्रा देकर इनका सम्मान करते थे। दरभंगा निवासी राय गंगा प्रसाद जी भी इन्हें प्रायः मुद्रा भेंट करते थे। राजा भरतपुर इनके अनन्य मित्र (दो देह एक प्राण) थे। मझोलीनरेश लाला खंगमलबहादुर इन्हें अपना मित्र मानते थे। बेगम भूपाल भी इनसे सर्वदा पत्र-व्यवहार रखती थीं एवं स्वरचित कविता इनके पास प्रायः भेजा करती थीं।

पूर्वोक्त राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त प्रसिद्ध बंग कवि हेमचंद्र बनुर्जी रामकृष्ण राम, द्वारिकानाथ विद्याभूषण, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, डॉक्टर राजेंद्र लाल मित्र, हिन्दू पैट्रियट के सम्पादक कृष्णदास पाल, रईस रैयत के सम्पादक डॉक्टर शम्भूनाथ मुकर्जी, ईश्ववरचंद्र विद्यासागर, पंजाब युनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार तथा हिन्दी के सुलेखक नवीनचंद्र राय, पंजाब देशीय प्रसिद्ध रईस विद्यारसिक अतर सिंह भदौरिया, श्री बाबा सुमेर सिंह साहिब साहिबजादे, बाबा संतोष सिंह, पूना के सार्वजनिक सभा के संस्थापक गणेश वासुदेव जोशी, बम्बई के प्रसिद्ध डॉक्टर भावदाजी प्रभृति से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध और प्रेम था। बाबू साहिब इन लोगों के कार्यों में भी बराबर सहायक रहते थे, और सदा पत्र-व्यवहार करते थे।

काशी निवासी तो प्रायः सभी इनके मित्र थे तथापि बाबू बालेश्वरप्रसाद पंडित रामशंकर व्यास, गोस्वामी कन्हैयालाल प्रभृति का इन्हें अधिक साथ रहता था।

केवल इसी देश के माननीय पुरुषगण नहीं किन्तु विलायत अमेरिका के विद्यानुरागी लोग भी इनका आदर करते थे, सर्वदा इन्हें Poet Laureate (राजकवि) मानते और लिखते थे और इनसे बराबर पत्र-व्यवहार देखते थे। उन महाशयों में फ्रेडरिक पिनकाट मुख्य थे।

देश-विदेश में इनका ऐसा सम्मान देखकर और इनकी कीर्ति कला के प्रकाश से आनन्दित होकर सन् 1880 ई. के 27 सितम्बर के 'सारसुधानिधि' पत्र में प्रियवर पंडित रामशंकर व्यासजी ने इनको 'भारतेन्दु' की पदवी देने के लिए एक प्रस्ताव छपवाया था और सब पत्र के सम्पादक तथा गुणग्राही विदज्जन एक सम्मति होकर इनको यह पद प्रदान किया और इसको सब लोगों ने स्वीकार किया और तब से देशीय-विदेशी सब ही लोग इन्हें भारतेंदु कहने और लिखने लगे।

लोगों ने बहुत सोच-विचार कर इनको यह यथार्थ पद प्रदान किया था, क्योंकि चंद्र से चंद्रिका की उत्पत्ति है, यहाँ हरिश्चंद्र से अभिनव किरणावली चंद्रिका प्रगट हुई थी, चंद्र से सुधा है, यहाँ इनसे भी 'कविवचन-सुधा' थी, चंद्र में कलाएँ चाहिए, यहाँ भी गुणसमूह देदीप्यमान कला थी, वह किसी की सुखद किसी की दुखद कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में वह एकरस है।

इनका जन्म एक ऐसे धनाढ्य वंश में हुआ था कि यदि हिसाब से रहते तो इनका धन कई पीढ़ी तक नहीं घटता, परन्तु एक तो यह स्वाभाविक उदार, दूसरे रसिकता के आगार एवं सर्वदा रसिकसमाज के साथ व्यवहार, तीसरे सदैव गुणियों को सत्कार, चौथे देश सुधार एवं परोपकार का विचार, पाँचवें अर्थलोलुप विश्वासघातियों की भरमार। इन्हीं कारणों से जब समय पर अपने पैसा न रहता तो दूसरों से लेकर भी व्यय करने में इनका हाथ नहीं रुकता था। भला ऐसे व्यक्ति के पास चंचला कब अचल भाव से चिरकाल ठहर सकती है।

1870 ई. में भाई से बांट बखरा हुआ। पैतृक धन का तीन भाग किया गया, इन लोगों का और एक ठाकुरजी का जिनकी पूजा इनके वंश में सैकड़ों वर्ष से चली आती है। परन्तु इनका व्यय तो अपरिमित था। दीवाली में अतर के दीवे जलाए जाते थे। अतर की शीशी उझल कर अभ्यंग करना यह तो इनका स्वाभाविक कार्य था। जब यह कहीं नाटक देखने जाते थे तो पच्चीस-तीस अथवा चालीस आदमी जो इनके साथ रहते थे सबकी टिकट इन्हीं की ओर से ली जाती थी। इस अपव्यय के साथ-साथ कवि पंडितों को भी इनके हाथ से नित्य कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त होता ही था और गुणी लोग इनसे सर्वदा सम्मानित होते ही थे, इससे इनको जो कुछ साथ मिला था देखते-देखते सब उड़ गया, परन्तु इनको अणुमात्र भी खेद नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त पब्लिक कामों में एवं राजभक्तिप्रकाश करने में समय-समय पर सहस्त्रों मुद्रा प्रदान करते ही थे। 1872 ई. में म्योमेमोरियल सिरीज में 1500 मुद्रा दिया था। होमियोपैथिक डिसपेंसरी में 1838 ई. से 1873 ई. तक 120 रुपया प्रतिवर्ष देते रहे, 'सोलजर्स फंड' में 100, गुजरात जबलपुर रिलीफ फंड में 70 रु., 'स्ट्रेंजर्स होम' में 50 रु. दिया था। इसी प्रकार प्रिंस ऑफ वेल्स हास्पिटल, कारमाइकललाइब्रेरी, नेशनलफंड इत्यादि अनेक कार्यों में द्रव्यप्रदान किया करते थे जिसकी तायदाद जाननी अब कठिन हो गई है।

भारतवर्ष के किसी प्रान्त में किसी स्कूल से जब बालिकाएँ परीक्षोत्तीर्ण होती थीं तो उन्हें बहुमूल्य साड़ी इत्यादि पारितोषिक प्रदान किया ही करते थे। इनके स्कूल के पढ़े हुए दामोदर दास जब बी.ए. परीक्षा की प्रथम श्रेणी में परीक्षोत्तीर्ण हुए थे तो उन्हें 100 रु. की सोने की घड़ी तथा 300 रु. की सोने की चेन पारितोषिक में दिया था। काशी के आचार्यपरीक्षोत्तीर्ण बालकों की भी घड़ी दिया करते थे। हमारे पंडित अम्बिकादत्त व्यास को भी साहित्याचार्य की परीक्षा पास होने पर इन्होंने एक घड़ी दी थी।

काशी के मणिकार्णिका कुंड में बहुत यात्रीगण गिर जाया करते थे और उन लोगों का जीवनाश भी हो जाया करता था। उस दुर्घटना के रोकने के लिए इन्होंने निज व्यय से वहाँ पर लोहे का कठघरा और ऐसी ही दुर्घटना बन्द होने के अभिप्राय से माधवदास के धौरहरे पर लोहे का छड़ लगवा दिया था। कम्पनीबाग में निज व्यय से लोहे के बेंच मँगवा कर रखवा दिए थे जो अद्याविधि वर्तमान है। इन सब कार्यों के लिए म्युनिसपैलिटी से इन्हें बहुत बार धन्यवाद मिला करता था।

हाँ बहुत से दुष्ट कुटिल भी इनके घर को उजाड़ कर अपना भंडार भरते जाते थे, परन्तु यह इनकी सुशीलता का फल था कि यह उन लोगों की दुष्टता आँखों से देखते हुए भी अनदेखा कर देते थे।

इनकी मामी के पास लाखों रुपये थे। उन्होंने पहिले उनको दो भागों में विभक्त करके दोनों भाइयों को बराबर-बराबर देने की इच्छा से कागज लिख दिया था? परन्तु जब इनका हाथ ऐसा खुला देखा, तो उनका जी

खट्टा हो गया। अपना सर्वस्व इनके भाई बाबू गोकुलचंद्र ही को देना निश्चय किया। पर आईन के अनुसार उनको ऐसा करने का अधिकार नहीं था जब तक बाबू हरिश्चंद्र की सम्मति न हो। 28 अक्टूबर 1878 ई. में नानी ने इनके भाई के नाम से एक बखशिशनामा लिखा। बाबू हरिश्चंद्र से उस पर दसखत बनाने को कहा गया। जो बाबू हरिश्चंद्र अपने बदन का दुशाला उतार-उतार कर भिक्षुकों को ओढ़ा देते और उनका शीत निवारण करते, दुष्टों के भी रोने-कलपने पर अपने हजारों रुपयों से बाज आते और कहते कि ''जाने दो बिचारा इसी से कमा खाएगा'' जिनकी यह दशा थी कि ''सम्पत्ति सुमेरू की कुबेर की जो पाव कहूँ तुरंत लुटावत विलम्ब उर धारै ना'' भला उनको यह तुच्छ धन सुहृदय भ्राता के लिए, जिसे यह प्राण सम म्यारा जानते थे (और उस पर भी मातामही की सम्मति के अनुसार) छोड़ देना क्या बड़ी बात थी। सहर्ष चित्त और सानन्द लेखनी उठाकर उस कागज पर अपना हस्ताक्षर बना दिया। उसके अनुसार इनको केवल चार हजार रुपया मिला था। उस पर दसखत करने से 'नगरसेठ हरिश्चंद्र राजाहरिश्चंद्र की भांति धनहीन हो गए।' यही नहीं एक दिन जैसे राजा हरिश्चंद्र ने अपने पास धन न होने से अपना व्रतपालन करने के निमित्त काशी नगर में डोम की सेवा भी स्वीकार की थी, सेठ हरिश्चंद्र ने भी अपने पास पूरा धन न होने से अपना परोपकार व्रत पालन करने के निमित्त खानदेश के अकाल के समय वहाँ के दुर्भिक्षपीड़ित जनों की सहायतार्थ द्रव्य इकट्ठा करने के लिए उसी काशी नगर में खप्पड़ लेकर लोगों से भीख माँगना स्वीकार किया।

यह भारतगौरव श्री मेवाड़नरेश महाराणा सज्जन सिंह से मिलने गए थे श्रीमान् के यह बड़े ही स्नेहपात्र थे और इनके देखने को बहुत दिनों से श्रीमान् इच्छुक थे। श्रीमान् के आग्रह से उनसे मिलने के लिए तथा श्रीनाथद्वारा के दर्शन की लालसा से मेवाड़ सिधारे थे। वहाँ पर इनका जैसा कुछ सम्मान हुआ वह पूर्व ही वर्णित हो चुका है। श्रीमन्महारणा साहिब से मिलकर जाड़े के दिनों में लौटे तो आते समय रास्ते में बीमार पड़े। बनारस पहुँचने के साथ ही श्वास रोग से पीड़ित हुए। श्वास काश और ज्वर तीनों ने आक्रमण किया, जीवनाशा जाती रही। इन तीनों का प्रबल कोप तो था ही इसी बीच में एक दिन बड़े जोर से विसूचिका हो गई। पिडुरी चढ़ने लगी, हाथ-पैर ऐंठने लगे। घड़ी क्षण की बात आ गई। वह देशा देख सबों का मुँह सूखने लगा, कलेजा काँपने लगा। कनिष्ठ भ्राता तथा बाबू राधाकृष्ण जी अहर्निश यथोचित सेवा में तत्पर रहे। श्री भगवती ने कृपा की। विसूचिका ने जान छोड़ दी। इनके द्वारा ईश्वर को सभी कुछ जगत् का उपकार कराना शेष रह गया था, इनका मिशन अभी पूरा नहीं हुआ था अर्थात् जिस काम के लिए संसार में आए थे वह कदाचित् अभी सम्पन्न नहीं हुआ था। इनके रोग-विमुक्त होने पर कितने लोगों ने आनन्दोत्सव किया, कितने लोगों ने कई नगरों में देवपूजन किया। रोग पूरा निवृत्त भी नहीं हुआ था कि लिखने-पढ़ने का काम फिर आरम्भ हुआ।

स्वस्थ होने पर इन्होंने 1883 ई. के अन्त में 'नाटक' नामक ग्रन्थ की रचना की और उसे प्रकाशित किया।

यद्यपि इस रोग से इनकी जान बची, परन्तु शारीरिक बल जाता रहा। कदाचित् इनका स्वास्थ्य फिर पूर्ववत् नहीं हुआ। कभी स्वस्थ कभी अस्वस्थ रहने लगे। परन्तु शरीर की कुछ भी चिन्ता न करके अविरल लिखने-पढ़ने के काम में पुनः प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार कुछ काल व्यतीत हुआ। मरने के एक वर्ष पहिले श्वास और खांसी का पुनः वेग हुआ। लोग दमा के धोखे में रहे उसी की बराबर औषधि होती रही, परन्तु वास्तव में इन्हें नई की बीमारी हो गई थी। पान अधिक खाते थे इससे कफ के साथ रुधिर का पता नहीं मिलता था। बीमारी कुछ और, दवा कुछ और होती गई। नित्यप्रति शरीर क्षीण होने लगा। चलने-फिरने की शक्ति घटने लगी। कहीं जाते तो पालकी पर जाते। जिसने बाल्यावस्था ही से लेखनी हाथ में ली, मस्तिष्क बराबर प्रचालन करके नए-नए ढंग की पुस्तकों की रचना की, अल्पही काल में ग्रंथों को लिखा और छपवा कर भाषाभंडार की शोभा बढ़ाई, भला उसका शारीरिक बल कैसे और कब तक बना रहे? मानसिक परिश्रम एवं नाना प्रकार की चिन्ता-देशचिन्ता, भेषचिन्ता, निजचिन्ता इत्यादि ने अलक्ष्यभाव से इनके बल को धीरे-धीरे घटाते-घटाते इनको इस अवस्था को पहुँचा दिया।

1884 ई. समाप्त हुआ। 2 जनवरी, 1885 ई. में अकस्मात् भारी ज्वर चढ़ा। 8 पहर तक अपना बल दिखा कर बिलग हुआ। फिर पसुली में वेदना आरम्भ हुई। डॉक्टरों को इनके जीवन का संशय हो गया। परन्तु वह पीड़ा भी दूर हुई। तीसरे दिन बड़े जोर से खांसी आरम्भ हुई। कफ बहुत आने लगा और कफ में रुधिर देखा गया। कष्ट बहुत हुआ, परन्तु उससे भी जान बची। 6ठीं जनवरी को सवेरे बहुत अच्छे थे। भीतर से दासी हाल पूछने आई, उससे हँस कर कहा कि ''हमारे जीवननाटक का प्रोग्राम नित नया-नया छप रहा है, पहिले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खांसी की सीन हो चुकी है। देखे लास्टनाइट कब होती है।''

दो बजे दिन को निज भ्रातृपुत्र श्री कृष्णचंद्र को पास बुलाकर कहा कि अच्छा वस्त्र पहिन आओ। वह कपड़ा पहिन कर गए। कहा कि इससे भी उत्तम वस्त्र पहिन आओ। वे दूसरा सुन्दर कपड़ा पहिन कर निकट गए। स्वयं श्रीरामकुरसी पर लेटे कृष्णचंद्र को गोद में बिठाए कुछ अंगूर खिलाया। फिर दोनों हाथ उनके माथे पर रखकर कुछ कालपर्यन्त ध्यानावस्थित रहे फिर उनको विदा कर, कहा 'जाओ खेलो।' उसके पश्चात् संसार की माया से कुछ सम्बन्ध नहीं रक्खा। श्वास बढ़ता गया, बेचैनी अधिक होने लगी। डॉक्टर वैद्य अनेक उपस्थित थे और औषधि भी परामर्श से करते जाते थे, परन्तु 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' प्रतिक्षण में बाबू साहिब डॉक्टरों से नींद आने एवं कफ घटाने की औषधि की इच्छा करने लगे। धीरे-धीरे रात हो गई। नौ बजे के समय इनके परिवार को विपत्तिसागर में डुबोने वाला, स्नेहियों का हृदय बिदारनेवाला, नागरी की अभागिनी बनानेवाला, भारतमाता का एक सपूत पूत हरने वाला, निर्दय कराल काल आ पहुँची।

पौने दस बजे के समय बाबू साहिब के जीवनलीला का अन्तिम पटाक्षेप हुआ। नित्य जीवन का नित्यनव अभिनय दिखला

कर आज इस नाट्यशाला से यह विदा हो गए। इस वियोगात्मक दृश्य के अनंतर चतुर्दिक अंधकार छा गया। जब हरिश्चंद्र ही अस्त हो गए तब अंधकार तथा हाहाकर के अतिरिक्त और क्या होने था? भारतवर्ष में चारों ओर दुख के बादल घिर गए।

काशी के गली-कूचों में भद्र लोगों को कौन कहे कुंजड़िन कहारिन भी बुक्का फाड़-फाड़ कर रोती थीं। पंडितगण यह कहकर रोते थे कि ''अब क्या वैश्यकुल में फिर भी कोई ऐसा जन्म लेगा जिससे हम लोग धर्माव्यवस्था पर सम्मति लेने जाएँगे।'' इनका सुहृद भ्राता के पास अन्यान्य स्थान निवासियों के भेजे हुए शोकसूचक तार तथा पत्रों का ढेर लग गया। अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती, बंगला, महाराष्ट्री सभी भाषा के पत्रों ने इनके लिए आंतरिक शोक प्रकाश किया। हिन्दी पत्रों की कहानी का? इनके तो यह जीवनमूर ही थे। इनमें तो एक न एक प्रकार से सभी के यह जन्मदाता वा पोषणकर्ता ही थे। महीनों तक कितने हिन्दी पत्र शोकचिह्न धारण किए रहे। कितनी कविताओं की रचना हुई। कितने ही चित्र खींचे गए। कितने साधारण लोगों ने शोकपत्र छपवा कर वितरण किया। भारतवर्ष के बहुत से महान पुरुष स्वर्गधाम सिधारे परन्तु ऐसा हार्दिक शोकप्रकाश कम देखने में आया।

सच है कि इनके स्वर्गवास के दुख से सबों ने अश्रुवर्षण किया। औरों की कौन कहे राजा शिवप्रसाद भी, जिनसे बराबर चोट की चल जाया करती थी, इनके घर आकर यहीं कह कर रोते थे, ''हा हमारा मोकाबिला करनेवाला उठ गया।''

34 वर्ष 3 महीना 27 दिन 17 घंटा 7 मिनिट 48 सेकेंड की अवस्था में इनका स्वर्गवास हुआ और काशी चरणपादुका पर इनकी दाहक्रिया हुई। पश्चात् इनके सुहृद बाबू गोकुलचंद्र ने पंडितों की सेवा में निम्नलिखित आमंत्रणपत्र भेजकर माघ पूर्णिमा सं. 1941 को पंडितों की सभा कराई एवं श्री भारतभूषण भारतेन्दु की आत्मा के हितार्थ दान उपादान किए।

इनकी स्वर्गयात्रा के अनंतर इनके स्मारकचिह्न स्थापन की चर्चा होने लगी। अलीगढ़ तथा कानपुर में 'हरिश्चंद्र पुस्तकालय' स्थापित किए गए। काशी में जो इनका संस्थापित स्कूल था उसमें पारितोषिक वितरण के समय राजा शिवप्रसाद ने यह प्रस्ताव किया कि ''अब से यह स्कूल अपने संस्थापक के नाम से विख्यात किया जाए।'' सभापति मि. आडम्स साहिब कलक्टर ने उसका अनुमोदन किया और तब से वह 'हरिश्चंद्र एडेड स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध है।

उदयपुर में 'हरिश्चंद्रार्य्यविद्यालय' संस्थापित हुआ जो अद्यावधि वर्तमान है और जिसके चिरस्थायी होने की भी सम्भावना है क्योंकि उसमें कुछ द्रव्य एकत्रित हो गया है। उदयपुर में कुछ दिन तक प्रतिवर्ष इनकी मृत्युतिथि को 'हरिश्चंद्र शोकसभा' हुआ करती थी जिसमें इनके गुण वर्णन के हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में लेख या कविता पढ़ी जाती थी।

'हरिश्चंद्र शोकावली' प्रकाशित हुई जो किसी समय पाठकों के अवलोकनार्थ भेंट की जाएगी।

बांकीपुर 'खड्गविलास' यंत्रालय से 'हरिश्चंद्रकला' नाम का मार्मिक पत्र अब तक प्रकाशित होता है जिसमें भारतेन्दु विरचित वा संग्रहित ग्रंथ तथा लेखादि प्रकाशित हुआ करते हैं, और जो शेष रह गए हैं वे सब भी छापे जाएँगे।

बाबू साहिब ने अपने जीवनकाल ही में स्वरचित ग्रन्थों का मुद्रण स्वत: खड्गविलास यंत्रालय के स्वामी हमारे सुयोग्य मित्र हिन्दी रसिक एवं हिन्दीभाषा के उद्धारक बाबू रामदीन सिंह जी को दे गए थे। भारतेन्दु को विश्वास था कि उनके अनन्य मित्रों में यही उनकी कीर्ति-ध्वजा के दंड होने योग्य थे और उनके अन्तर्हित होने पर यही उनकी कीर्ति के प्रसारण में यत्नवान होंगे।

'हरिश्चंद्रकला' का उदय हुआ जो आज तक भारतेन्दु के प्रेमियों को आनन्द दे रही है। इसमें हरिश्चंद्र के लिखे तथा संग्रह किए ग्रन्थ एवं लेखादि प्रकाशित होने से भारतेंदु जी के मानवर्धनार्थ आज भी प्रान्तिक शिक्षाविभाग में इसकी 100 प्रतियाँ प्रतिवर्ष क्रय की जाती हैं।

कुछ काल तक 'जमोर' जिला गया से 'हरिश्चंद्रकौमुदी' नामक एक मासिकपत्र भी प्रकाशित हुआ करता था।

इसमें संदेह नहीं कि इन्होंने निज स्मारक चिह्न ऐसा छोड़ा है कि संसार में जब तक हरिश्चंद्र देदीप्यमान है हरिश्चंद्र की कीर्ति भी जगमगाती रहेगी। जैसा कि श्रीधर पाठकजी ने लिखा है-

''जबलों भारतभूमि मध्य आरज-कुल-बासा।
जबलों आरज धर्म मांहि आरज-विश्वासा॥
जबलौं गुन-आगरी नागरी आरज-वानी।
अबलों यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चन्दसूर संग सुमिरिहैं हरिशचंदहुं सज्जन सकल॥''

हरिश्चंद्र स्वर्ग सिधारे, परन्तु चार बात की लालसा इनके मन में लगी ही रही। यह प्राय: कहा करते थे कि ''अभी तक मेरे पास पूर्ववत बहुत धन होता तो मैं चार काम करता (1) श्रीठाकुरजी की बगीचे में पधरा कर धूमधाम से षट्ऋतु का मनोरथ करता, (2) विलायत, फरांस और अमेरिका जाता (3) **अपने उद्योग से एक शुद्ध हिन्दी की यूनिवर्सिटी स्थापन करता, और** (4) एक शिल्पकला का पश्चिमोत्तर देश में कॉलेज बनाता।''

अप्रतिम : वार्षिकी, जनवरी 2009 से साभार

बहुधा : विविधा या दुविधा

सुभाष शर्मा

बाल्मीकि प्रसाद सिंह की पुस्तक 'बहुधा और 9/11 के बाद की दुनिया' की भूमिका दलाई लामा ने लिखी है जिसमें मुख्यत: चार बातें हैं : पहली, भारत की सभ्यता और संस्कृति शुरू से अब तक अक्षुण्ण रही है। दूसरी, यहाँ ज्ञान और आचरण की अनेक परम्पराएँ रही हैं–कुछ भीतरी, कुछ बाहरी। तीसरी, भारत आत्मनिर्भर, आर्थिक रूप से ऊर्जावान और दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। चौथी, 9/11 के बाद नए अवसर पैदा हुए हैं–अब मतभेदों को दूर करने का एकमात्र तरीका संवाद और समझौते का है तथा अहिंसा सबसे सही नजरिया है। इनमें से पहली बात सही नहीं है क्योंकि भारत की सभ्यता-संस्कृति काफी बदलती रही है। दूसरे, भारत अभी आत्मनिर्भर नहीं बन पाया है और दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र अभी तक महान लोकतंत्र नहीं बन पाया है।

अब लेखक के प्राक्कथन पर ध्यान दें। पहले ही वाक्य में लेखक ने बता दिया है कि जब वह वाशिंगटन में विश्व बैंक के कार्यकारी निदेशक थे, तभी 9/11 की घटना घटी थी और उन्होंने आतंकवाद से निपटने का अपना अनुभव बताया। मगर सच्चाई यह है कि अभी तक भारत आतंकवाद से बुरी तरह हार रहा है। जब से उन्होंने इस किताब के बारे में सोचना शुरू किया। उन्हें ऋग्वेद का यह सूत्र कारगर लगा–'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्य एक है जिसे विद्वान लोग अलग-अलग तरह से बताते हैं। लेखक ने बहुधा शब्द का प्रयोग 'परम सत्य पर निरंतरता, सद्भावपूर्ण संवाद और शांतिपूर्ण सामाजिक जीवन' के अर्थ में किया है (पृ. 10)। वह मानते हैं कि बहुलतावादी समाज में अनेक जाति, धर्म और भाषाएँ होती हैं और साझा हितों की समझ को बढ़ावा मिलता है। आगे वह कहते हैं : ''बीसवीं सदी के महान संघर्ष उपनिवेशवाद, फासीवाद और समाजवाद के खिलाफ चले हैं।'' यह कथन अर्द्धसत्य है क्योंकि बीसवीं सदी में पूँजीवाद के खिलाफ संघर्ष बड़े पैमाने पर चला था जिसके परिणामस्वरूप सोवियत रूस की क्रांति 1917 में सम्पन्न हुई थी, चीन में लाल क्रांति 1949 में सम्पन्न हुई थी और पूर्वी यूरोप के देशों में पूँजीवाद की जगह समाजवाद आया था। लातीनी अमेरिका में क्यूबा, वेनेजुएला, चिली आदि में तथा वियतनाम, उत्तरी कोरिया और पूर्वी जर्मनी में पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध क्रांतिकारी परिवर्तन (व्यवस्थागत) हुए थे। मगर लेखक विश्व बैंक के कार्यकारी निदेशक थे, तो जाहिर है वह पूँजीवाद का नाम नहीं ले सकते अर्थात् विश्व बैंक में कार्य करना उनकी विचारधारात्मक सीमा का सूचक भी है।

आगे लेखक का यह कहना सही है कि सिर्फ आतंकवाद और आत्मघाती दस्तों से ही खतरा नहीं है, बल्कि दरिद्रता, महामारियाँ, बीमारियाँ, निरक्षरता और पर्यावरण का विनाश भी आज के बड़े खतरे हैं। उनका यह कथन भी सही है कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था सबसे प्रमुख सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के रूप में उभरी है जिससे मानवाधिकारों और आजादी को ज्यादा से ज्यादा स्वीकार्यता मिली है (पृ. 11)। उन्होंने धर्म के शांतिप्रिय उपयोग (जैसे महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग, मदर टेरेसा) तथा नकारात्मक/हिंसात्मक उपयोग (अतिवादी और कठमुल्ला) की चर्चा की है। उन्होंने करेन आर्मस्ट्रांग के हवाले से कहा है कि बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में धार्मिक कट्टरता/मूलवाद वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष संस्कृति की प्रतिक्रिया में उभरने की बात कही है। यह पूर्णत: नहीं, बल्कि अंशत: सही है। विज्ञान एक सुसंगत एवं तार्किक विवेचना-पद्धति देता है मगर जब उसका उग्र रूप (विज्ञानवाद) न्यूनीकरण में बदल जाता है अर्थात् प्रत्येक चीज और मानव-सम्बन्धों को वस्तुनिष्ठता में न्यूनीकृत करता है, तो उसका विरोध होना स्वाभाविक है। मनुष्य के निजी, अंतर-वैयक्तिक और सामाजिक सम्बन्धों के भिन्न-भिन्न दायरे होते हैं जिनमें कुछ धार्मिक और कुछ धर्म-निरपेक्ष चीजें होती हैं और कुछ इन दोनों से परे होती हैं। दूसरे यह भी सच है कि जब किसी एक धर्म को जरूरत से ज्यादा तरजीह दी जाती है और दूसरे को शंका की दृष्टि से देखा जाता है, अथवा उसकी

प्रत्यक्ष या परोक्ष उपेक्षा की जाती है, तो निश्चित रूप से उपेक्षित और संदेहास्पद धर्म के भीतर से विरोध की प्रक्रिया शुरू होती है, लेकिन यह मामला इतना सरल भी नहीं होता क्योंकि कभी-कभी बिना भेदभाव के भी मनोवैज्ञानिक रूप से भेदभाव माना जाता है जिसके कारण भी विरोध अतिवाद का रूप लेता है। उदाहरण के तौर पर 2008 के उत्तरार्द्ध में जामिया नगर के बाटला हाउस में पुलिस की मुठभेड़ आतंकवादियों से हुई थी जिसमें दो युवा आतंकवादी मारे गए थे और एक पुलिस इंस्पेक्टर मोहनचंद्र शर्मा शहीद हुआ था और कुछ पुलिसकर्मी जख्मी भी हुए थे, लेकिन कुछ मुस्लिम संगठनों, जामा मस्जिद के इमाम बुखारी और समाजवादी पार्टी ने इसे फर्जी मुठभेड़ करार दिया था और यह भी कहा था कि मोहनचंद्र शर्मा को पुलिस वालों ने ही गोली मार दी थी। इस मुठभेड़ को पुलिस कमिश्नर (दिल्ली) ने सही पाया था मगर कुछ धार्मिक नेताओं और तथाकथित पंथ-निरपेक्ष दलों ने वोट की राजनीति के कारण अपराधकर्मियों का पक्ष लिया था। यह तो अच्छा हुआ कि भारत सरकार ने मोहनचंद्र शर्मा को अशोक चक्र से सम्मानित किया, जिससे अंततः सत्य की जीत हुई। सो लेखक का यह कथन सही नहीं है : ''11 सितम्बर, 2001 के बाद अगर कुछ मुसलमानों ने अपने बच्चों का नाम ओसामा रखा है, तो इसे क्षणिक आवेश का मामला ही मानना चाहिए।'' अचानक ओसामा या लादेन नाम थोक भाव से रखना एक तरह का धार्मिक उन्माद है जबकि ओसामा बिन लादेन की साजिश से ही विश्व व्यापार केंद्र को ध्वस्त किया गया था जिसमें हजारों निर्दोष व्यक्तियों की हत्या हुई थी। यदि किसी बड़े अपराधी या बड़े आतंकवादी का नाम लोकप्रिय हो रहा है तो यह शांति के ध्वंस का तो प्रतीक है ही, लोकतांत्रिक मूल्यों एवं पंथ-निरपेक्षता के पतन की प्रक्रिया का भी सूचक है। सो लेखक आगे कुछ संभलकर बात करता है : ''हमें इस्लामी दुनिया के मध्यमार्गियों का समर्थन करना चाहिए, लोकतंत्र को बढ़ावा देना चाहिए और फिलिस्तीन जैसी पुरानी समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की जानी चाहिए।'' (पृ. 14) इसे वह आगे और स्पष्ट करते हैं : ''नए विचारों का प्रतिरोध करनेवाले रुग्ण होते हैं।'' (पृ. 15)

पहले अध्याय में वर्णित लेखक के अनुसार 1989 से 2001 के बीच तीन प्रमुख घटनाएँ घटीं : 1989 में बर्लिन की दीवार का गिराना, 1997 में हांगकांग चीन को वापस मिलना, तथा 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका में विश्व व्यापार केंद्र पर आतंकी हमला होना। पहली घटना को वह साम्यवाद और तानाशाही का द्योतक मानते हैं, दूसरी घटना को औपचारिक रूप से उपनिवेशवाद की समाप्ति का उद्घोष मानते हैं और तीसरे को अफगानिस्तान और इराक पर हमले की पूर्वपीठिका मानते हैं। वह मानते हैं कि इन तीनों घटनाओं ने दुनिया के करोड़ों लोगों के जीवन को छूने के साथ-साथ 'भावी इतिहास की दिशा' को भी प्रभावित किया है। मगर उन्होंने कतिपय वैश्विक घटनाओं को नजरअंदाज किया है जैसे भारत और पाकिस्तान ने परमाणु बम-विस्फोट किया, विश्व सामाजिक मंच (वर्ल्ड सोशल फोरम) ने पूँजीवादी व्यवस्था को चुनौती देते हुए सिद्धांत और व्यवहार दोनों के धरातल पर स्पष्ट किया कि एक वैकल्पिक दुनिया सम्भव है : पाकिस्तान और अफगानिस्तान में तालिबान का प्रभुत्व बढ़ता रहा है और उसके फलस्वरूप महिलाओं की आजादी खतरे में पड़ गई है तथा नवयुवकों को मदरसों की धार्मिक शिक्षा से गुमराह किया जा रहा है; नेपाल में माओवादियों ने चुनावी संसदीय राजनीति को स्वीकार किया तथा सदियों से चली आ रही राजशाही एवं हिन्दू राष्ट्र की जगह जनतंत्र और पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र ने ले ली, पाकिस्तान में चुनाव के बावजूद तालिबानी, आई.एस.आई. और सेना का गठजोड़ कायम है (जिससे 26 नवम्बर, 2008 को मुम्बई में हमले हुए) जबकि बांग्लादेश में भ्रष्ट एवं धार्मिक उन्मादी (जिहादी) संरक्षित सत्ता की जगह चुनाव में जनता ने आवामी लीग को विजयश्री दिलाई। इसके अलावा भारत के जम्मू-कश्मीर राज्य में विधानसभा चुनाव में कट्टरपंथ और अलगाववाद को मात दे दी। हालाँकि लेखक ने पाकिस्तान में राज्य प्रायोजित आतंकवाद (कारगिल युद्ध 1999) का जिक्र किया है मगर वह सैनिक शासन के दौरान था। उन्हें ताजा हालात की जानकारी भी देनी थी यानी 26 नवम्बर 2008 को मुम्बई में पाकिस्तानी आतंकवादियों द्वारा किए गए हमलों को विश्लेषित करना था (क्योंकि यह पुस्तक 2009 में प्रकाशित है) जो तथाकथित लोकतंत्रीय व्यवस्था के दौरान घटित हुए थे। इसे पाकिस्तान ने पहले नकारा था, मगर अकाट्य सबूतों के आगे उसे झुकना पड़ा।

दूसरे अध्याय में लेखक जाने-अनजाने ऐसा सामान्यीकरण कर जाता है जो इतिहास-सम्मत नहीं है। उनके शब्दों में, ''आमतौर से अभी तक आतंकी जमातें हर धर्म के साथ जुड़ी रही हैं....'' यह कथन सही नहीं है क्योंकि हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, पारसी धर्म आतंकवाद तो क्या, हिंसा से कमोबेश दूर रहे हैंऔर मैत्री, अहिंसा, सद्भाव, त्याग, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि के प्रतीक रहे हैं। फिर वह दूसरा सामान्यीकरण करते हैं : ''ईश्वर के प्रति आस्था हर धर्म के केन्द्र में है....'' यह भी सही नहीं है क्योंकि विशेषकर कई आदिवासी समाज प्रकृति की पूजा करते हैं, उनमें ईश्वर की जगह प्रकृति लेती है। उदाहरणार्थ, जीववाद (एनिमिज्म) और गणचिह्नवाद (टोटेमिज्म) की खोज समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने भारतीय, अफ्रीकी, पूर्वी एशियाई और लातीनी अमेरिकी आदिवासी समाजों में की है जिनके लिए कोई खास वृक्ष, पौधा, जीव-जन्तु (जैसे कछुआ, खरगोश) आदि परम पूज्य होते हैं और वे ही ईश्वर के विकल्प होते हैं। भारत में भी ऋग्वैदिक काल में अग्नि, वायु, वरण, पृथ्वी जैसे प्रकृति रूपी देवताओं की पूजा होती थी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, दुर्गा, काली, संतोषी माँ, राम, कृष्ण आदि काफी बाद में प्रचलित देवी-देवता हैं।

लेखक ने महात्मा गांधी के बारे में ठीक ही लिखा है कि उन्होंने धर्म को निजी आचरण माना मगर उसे सहनशीलता और अहिंसा से जोड़ा। गांधी का साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए किया गया त्याग सराहनीय है किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य को नमक कानून तोड़कर उन्होंने बड़ी चुनौती दी थी जो, लुई

फिशर के शब्दों में, 'जबर्दस्त कल्पनाशक्ति, आत्मबल और जबर्दस्त प्रदर्शनकारी बुद्धि का प्रभाव' था (पृ. 177)। गांधीजी ने अहिंसा को बाद में 'शारीरिक श्रम और पड़ोसियों के दैनन्दिन सम्बन्धों' से जोड़ते हुए 'रचनात्मक कार्यक्रम' की संज्ञा दी। लेखक मानता है कि सत्याग्रह बहुधा का ही नया रूप है जिसमें बातचीत और आपसी सहमति से टकराव सुलझाया जाता है। अहिंसात्मक संघर्ष में रचनात्मक कार्यक्रम, संवाद बनाना और अहिंसा का समावेश था और इन चीजों ने बहुधा दर्शन को नया अर्थ और प्रासंगिकता दी। उन्होंने अहिंसा का दायरा निजी व्यवहार से बढ़ाकर सामूहिक व्यवहार तक बढ़ा दिया जो औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था के विरुद्ध कारगर साबित हुआ। मगर लेखक को गांधी की खामियों की ओर भी संकेत करना चाहिए था जिसके कारण भीमराव अम्बेडकर का उनके साथ वैचारिक टकराव था जाति और वर्ण-व्यवस्था को लेकर। गांधी छुआछूत को अवैध और अनैतिक मानते थे मगर वर्ण-व्यवस्था को व्यवसाय आधारित मानकर स्वीकार्य मानते थे। दूसरे, उनका मानना था कि देश की आजादी का सवाल सबसे ज्यादा प्राथमिकता का है जबकि जाति-वर्ण आदि का सवाल आजादी मिलने के बाद निपटा लिया जाएगा। दूसरी ओर अम्बेडकर अड़े थे कि जाति-वर्ण व्यवस्था दोनों मानव-विरोधी हैं और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दूसरे, वह जाति-वर्ण व्यवस्था के सवाल को आजादी से ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे तथा दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र चाहते थे और ब्रिटिश शासन को हिन्दू व्यवस्था से ज्यादा कानून सम्मत, लोकतांत्रिक और न्यायप्रद समझते थे। बाद में दोनों के बीच 'पूना समझौता' हुआ। वास्तव में, सभी पहलुओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि गांधी का जाति-वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार समस्यापरक था क्योंकि जन्म के आधार पर व्यवसाय चुनना उन्नति में बाधक होता है तथा उत्पादक वर्ग को हेय मानता है, विशेषकर शारीरिक और मानसिक श्रम में विभेद करना समतामूलक नहीं होता। मगर दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र करने तथा वर्ण-जाति के सवाल को देश की जाति के ऊपर और पहले रखने का अम्बेडकर का विचार सही नहीं था, इस बिन्दु पर गांधी सही थे जिन्हें एक खास जाति-वर्ण की अपेक्षा समूचे देश और समाज की चिंता थी।

लेखक के इस विचार से सहमत हुआ जा सकता है कि अकबर द्वारा चलाया गया दीन-ए-इलाही इसलिए लोकप्रिय नहीं हो सका कि उसे कठमुल्लों ने धर्मद्रोह माना जबकि बीरबल (जो अकबर के नौ रत्नों में था) जैसे हिन्दू ने उसे स्वीकार कर लिया था। अकबर दूसरे धर्मों का आदर करते थे, और उनके शासनकाल में विभिन्न कलाओं का विकास हुआ। अनपढ़ होने के बावजूद अकबर में रचनात्मक बुद्धि थी और उनके द्वारा फतेहपुर सीकरी में बनवाया गया इबादतखाना सभी धर्मों के बीच संवाद का केंद्र बन गया था। मगर लेखक के इस कथन से पूरी सहमत नहीं हुआ जा सकता कि राजपूत राजाओं का अकबर से सम्बन्ध इस आधार पर ज्यादा मजबूत हुआ कि वे अपनी राजकुमारियों का विवाह अकबर से स्वेच्छा से करते थे और अकबर ने 'उनसे शादी करके उन्हें सम्मानित किया।' जिस समाज में ऊँच-नीच का भाव हो, वहाँ कई राजपूतों द्वारा अपनी बेटियों की शादी अकबर से स्वेच्छा से करने की बात कम विश्वसनीय लगती है। वैसे एकाध अपवाद माना जा सकता है। दूसरे, बहुपत्नी विवाह और बड़े पैमाने पर 'हरम' रखने के लिए अकबर को दोषी (अय्याश) माना जा सकता है। तीसरे, अकबर के साले मानसिंह झारखंड के संथाल परगना के राजमहल में एक मंदिर बनवा रहे थे, किन्तु अकबर के अचानक दौरे को सुनकर उन्होंने उसे मस्जिद में बदल दिया। यह सिद्ध करता है कि अकबर के शासनकाल में भी पूरी तरह धार्मिक समानता नहीं थी बल्कि इस्लाम शासक धर्म होने के नाते सोपानक्रम में सबसे ऊपर था। मगर लेखक ने इन तथ्यों को उजागर नहीं किया है, 'बहुधा' के सिद्धान्त को तार्किक परिणति देने के लिए। मगर लेखक ने यह सही रेखांकित किया है कि अकबर ने नौसेना नहीं बनाई तथा उस समय पश्चिम में हो रहे विज्ञान एवं तकनीक के विकास पर ध्यान नहीं दिया।

लेखक ने जवाहरलाल नेहरू के योगदान की चर्चा की है कि 1919 और 1947 के बीच नेहरू 'राष्ट्रवाद और बलिदान की प्रतिमूर्ति के तौर पर उभरे' (पृ. 216)।

आगे भी लेखक ने 'लोगों के बीच' नामक अध्याय में वर्तमान में मौजूद सामाजिक सद्भाव के कतिपय उदाहरण दिए हैं जैसे, केरल में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई एक ही भाषा (मलयालम) बोलते हैं, लगभग एक-सी ही पोशक पहनते हैं और ओणम् जैसे त्योहार साथ-साथ मनाते हैं। पश्चिम बंगाल में वीरभूमि जिले में केंदुली गाँव में 'गीतगोविन्दम्' के रचनाकार जयदेव का जन्म हुआ था जहाँ हर मकर संक्रांति (14 जनवरी) को एक सप्ताह का मेला लगता है।

लेखक हिन्दी-उर्दू की अलग स्थिति की बजाय हिन्दुस्तानी का पक्षधर प्रतीत होता है। मगर वह लिपि का सवाल नहीं छूता- यदि उर्दू देवनागरी लिपि अपना ले, तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा तुरन्त खत्म हो जाएगा। हिन्दी भारत के दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में कामगारों के बीच सम्पर्क भाषा की भूमिका बखूबी निभा रही है।

इस पुस्तक में कई खामियाँ और भी हैं जैसे विभिन्न अध्यायों में एक ही बात को इतनी बार दुहराया गया है कि पूरी पुस्तक 418 पृष्ठों की बजाय दो सौ पृष्ठों में आसानी से समेटी जा सकती थी। विभिन्न लेखों को एक संग्रह में देते समय सार्थक एवं श्रमसाध्य सम्पादक की जरूरत होती है। दूसरे, प्रूफ रीडर ने अपना काम नहीं किया है जिसके कारण इसमें एक सौ से अधिक अशुद्धियाँ हैं। राजकमल प्रकाशन में ऐसे अज्ञानी प्रूफ रीडर का होना चिंताजनक है। इस पुस्तक की कीमत 550 रु. रखना भी किसी दृष्टि से जायज नहीं कहा जा सकता।

यह पुस्तक अच्छी श्रेणी में रखी जा सकती है। मगर अधिकतर विद्वानों की राय है कि अच्छा, महान का शत्रु होता है। फिर भी यह किताब पढ़ी जा सकती है।

बहुधा/ बाल्मीकि प्रसाद सिंह/ राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली/ मूल्य : 550 रु.

डी-71, निवेदिता कुंज, सेक्टर 10, आर. के. पुरम्, नई दिल्ली-110022

मदन गोपाल : प्रेमचन्द के खोजी विशेषज्ञ और जीवनीकार

कमल किशोर गोयनका

प्रेमचन्द के पहले खोजी विशेषज्ञ और जीवनीकार मदन गोपाल का पिछले वर्ष 16 दिसम्बर को देहान्त हो गया और हिन्दी के मठाधीशों, विद्वानों, लेखकों तथा प्रोफेसरों ने श्रद्धांजलि के दो शब्द भी नहीं कहे और वे इस उपेक्षा और उदासीनता के साथ इस संसार से विदा हो गए। हमारा समाज और उसमें साहित्यिक समाज भी शामिल है, अपने नेताओं और मठाधीशों के अमृत-महोत्सव मनाता है, उनकी दीर्घ आयु की कामना करता है, परन्तु कुछ ऐसे भी समाजसेवी और साहित्य-साधक होते हैं जिन्हें अपने महत् कार्य से न तो यश मिलता है और न उनके शव को कन्धा देने वाले तथा पुष्पांजलि देने वाले लोग होते हैं। मदन गोपाल ऐसे ही हिन्दी-अंग्रेजी-उर्दू के लेखक थे जिनकी मृत्यु का समाचार भी समाचार-पत्रों में प्रकाशित नहीं हुआ, कोई शोक-सभा नहीं हुई और उनके कार्य के मूल्यांकन का भी प्रयत्न नहीं हुआ।

मदन गोपाल से मेरा परिचय सन् 1972-73 में हुआ था, लेकिन प्रेमचन्द पर उनके कार्य से परिचय तभी हो गया था, जब अंग्रेजी में प्रेमचन्द पर लिखी उनकी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' प्रकाशित हुई थी। मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय से सन् 1961 में एम.ए. पास किया था और डॉ. नगेन्द्र के आदेश पर 'प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प-विधान' विषय पर सन् 1964 से शोध-कार्य करना आरम्भ किया था। मैंने अपना कार्य आरम्भ करने पर यह आवश्यक समझा कि उनके जीवन और साहित्य से पूर्णत: परिचित होऊँ और साथ ही

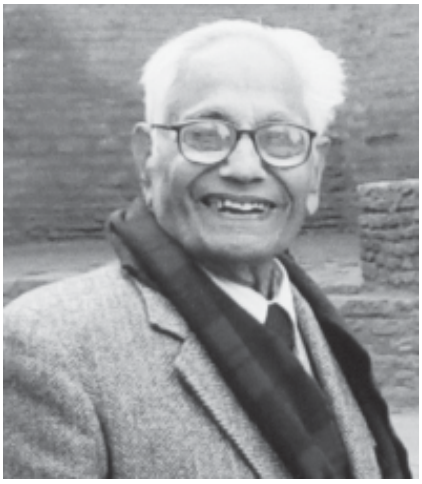

मदन गोपाल

उन पर उपलब्ध आलोचनात्मक पुस्तकों का अध्ययन करूँ। उस समय तक अमृतराय की जीवनी 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' प्रकाशित हो गई थी और साहित्य-संसार में उसकी बड़ी चर्चा थी। अमृतराय ने उसके साथ ही प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियों, पत्रों, आरम्भिक उर्दू-हिन्दी उपन्यासों तथा अनुवादों की नौ पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। यह साहित्येतिहास की ऐसी घटना थी जो सम्भवत: पहली बार हुई थी। इसके कुछ समय बाद मदन गोपाल की अंग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' छपकर आयी तो मैं तब तक अमृतराय की जीवनी पढ़ चुका था, लेकिन यह उत्सुकता मुझे मदन गोपाल की अंग्रेजी जीवनी की ओर आकर्षित कर रही थी कि क्या दोनों जीवनी में एकरूपता है और यदि ऐसा नहीं है तो उनमें कैसा और कितना अन्तर है। एक ही साहित्यकार पर लगभग एक ही समय पर दो जीवनियों के प्रकाशन की यह पहली घटना थी।

मैंने प्रेमचन्द पर अपना शोध-प्रबन्ध पूरा किया और मुझे सन् 1972 में पी-एच.डी. की उपाधि मिल गई। मैंने अपने शोध-कार्य के समय यह पाया कि प्रेमचन्द के उपन्यासों का रचना एवं प्रकाशन-काल तक अनिर्णित है तथा उनकी व्याख्याएँ एवं पूर्व प्रस्तुत निष्कर्ष भी तर्कसंगत नहीं हैं। इस स्थिति से मेरे मन में 'प्रेमचन्द विश्वकोश' की कल्पना उत्पन्न हुई और मैं अपने विभागीय सहयोगी डॉ. गंगाप्रसाद विमल के साथ प्रेमचन्द के बड़े पुत्र श्रीपतराय से मिला, 'प्रेमचंद साहित्य-कोश' (तब यही नाम था) की योजना उनके सम्मुख रखी और उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से सहयोग देना स्वीकार किया। श्रीपतराय ने कुछ समय तक सहयोग दिया भी, लेकिन उन्होंने कुछ समय बाद इस योजना से स्वयं को अलग कर लिया। मुझे इससे धक्का लगा। मेरे मन पर मदन गोपाल के प्रेमचन्द के पहले अंग्रेजी जीवनीकार तथा उनके खोजी रूप का बिम्ब अंकित था ही। जीवनी-लेखन की दृष्टि से अमृतराय की तुलना में मदन गोपाल का कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं था। अमृतराय प्रेमचन्द के पुत्र थे तथा पिता के सारे दस्तावेज, जीवन और साहित्य के सारे स्रोत उन्हें उपलब्ध थे। अमृतराय की माँ शिवरानी देवी तब जीवित थीं, अत: तथ्यों की जानकारी एवं उनकी प्रामाणिकता के सूत्र उन्हें सहज रूप से प्राप्त थे, लेकिन मदन गोपाल के पास तो प्रेमचन्द के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा के अतिरिक्त कुछ नहीं था।

मदन गोपाल का जन्म हाँसी (हिसार) में हुआ था, इलाहाबाद या वाराणसी में नहीं, जहाँ रहने पर वे साहित्य के संस्कार और

प्रेमचंद के सम्बन्ध में काफी जानकारी प्राप्त कर सकते थे। वे विज्ञान के छात्र थे, लेकिन मन साहित्य और पत्रकारिता में रचा-बसा था। मेरी मदनगोपाल से पहली भेंट अप्रैल, 1973 में हुई जब वे भारत सरकार के प्रकाशन विभाग में संयुक्त निदेशक थे। उनसे 'प्रेमचंद विश्वकोश' की योजना पर विस्तार से बातचीत हुई और उन्होंने इसकी सराहना करते हुए अपना सहयोग देने का वचन दिया। इसके बाद उनसे मेरा बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा और उन्होंने प्रेमचंद पर लिखे अंग्रेजी लेखों की सूची भेजी और जब मैं उनसे उनके निवास पर 23 सितम्बर, 1975 को मिला तो उन्होंने सन् 1944 में किताबिस्तान, इलाहाबाद से खरीदी गई अंग्रेजी में लिखी पुस्तक 'प्रेमचंद' भेंट की।

मदन गोपाल इसी के साथ प्रेमचंद के पत्रों के संकलन का कार्य भी शुरू कर चुके थे और उनका सम्पर्क भीष्म साहनी से भी था जो स्वयं भी इसी प्रयास में लगे थे। मदन गोपाल से इस पत्र के बाद मित्रता निरंतर बढ़ती गई तथा पत्र-व्यवहार होता रहा और कुछ निजी जीवन की तथा कुछ साहित्य की बातों का आदान-प्रदान होता रहा।

मदन गोपाल ने प्रेमचंद पर लेखन-कार्य सन् 1943 में शुरू किया। उस समय उन्होंने प्रेमचंद पर हिन्दी-उर्दू की कई पुस्तकें पढ़ी थीं-'हंस' का 'प्रेमचंद स्मृति अंक', जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक 'प्रेमचंद की उपन्यास कला', डॉ. रामविलास शर्मा की 'प्रेमचंद' (1941), प्रेमनारायण टंडन की 'प्रेमचंद : उनका कृतित्व और कला' (1942) तथा उर्दू में 'प्रेमसोग' (1937)। इन पुस्तकों का उल्लेख उन्होंने अपनी सन् 1944 में प्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचंद' में किया है। सन् 1943 में प्रेमचंद पर सौ पृष्ठों की उनकी पुस्तक छपी तो उन्हें ख्याल आया कि अंग्रेजी में प्रेमचंद पर पुस्तक होनी चाहिए। इसके बाद वे इस कार्य में जुट गए और सन् 1944 के आरम्भ में लाहौर के शिवनाथ मेहता ने 'प्रेमचंद' शीर्षक उनकी अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित की और किताबिस्तान, इलाहाबाद ने इसे ढाई रुपये में बेची। मदन गोपाल ने यह पुस्तक गांधी और नेहरू को भेजी और अपने अंग्रेजी प्रोफेसर तथा उस समय इंदौर राज्य के

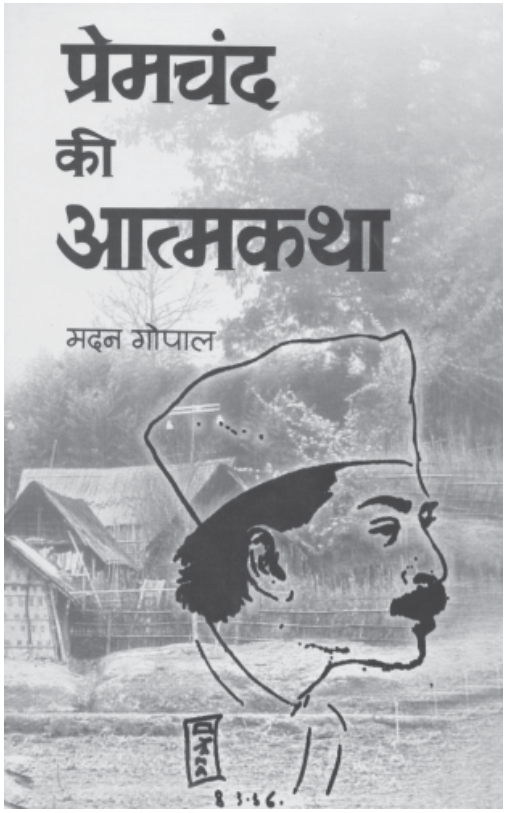

शिक्षामंत्री एच.बी. रिचर्डसन को यह पुस्तक अर्पित की। रिचर्डसन ने अपने 27 मार्च, 1944 के पत्र में मदन गोपाल को लिखा, ''तुमने उस लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व का बड़े ध्यान से और सूझबूझ से बढ़िया मूल्यांकन किया है। तुम्हारी उम्र के युवक के लिए यह करना बड़ी प्रशंसनीय उपलब्धि है। यदि मैं इसे कर पाता तो मुझे बड़ा गर्व होता।'' इस अंग्रेजी पुस्तक की 'इलस्ट्रेटिड वीकली', बम्बई, 'हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड', कलकत्ता, 'इंडियन सोशल रिफार्म', बम्बई, 'हिन्दुस्तान रिव्यू', इलाहाबाद, 'बम्बई क्रानिकल', बम्बई आदि में समीक्षा प्रकाशित हुईं और सभी ने हिन्दी-उर्दू के इस महान लेखक का परिचय अंग्रेजी एवं अहिन्दी भाषी पाठकों को कराने के लिए इस प्रयास की सराहना की। मदनगोपाल ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा कि भारतीय साहित्य के चार श्रेष्ठ साहित्यकारों रवीन्द्रनाथ टैगोर, इकबाल, शरतचंद्र चटर्जी और प्रेमचंद में से अन्तिम लेखक अंग्रेजी पाठकों से अपरिचित थे। मैंने इस पुस्तक के द्वारा लगभग 35 वर्षों तक हिन्दुस्तानी साहित्य की निस्वार्थ भाव से सेवा करनेवाले तथा विश्व की भाषाओं में हिन्दुस्तानी को स्थान दिलानेवाले लेखक पर कोई जीवनी एवं साहित्य के मूल्यांकन की पुस्तक न होने के अभाव की पूर्ति की है। मदन गोपाल ने इस पुस्तक की भूमिका में यह संकल्प भी किया कि वे भविष्य में प्रेमचंद की एक पूर्ण जीवनी लिखेंगे और उन्होंने अपना यह वायदा सन् 1964 में पूरा किया जब उनकी पुस्तक 'मुंशी प्रेमचंद' अंग्रेजी में प्रकाशित हुई।

मेरा 'प्रेमचंद विश्वकोश' पर कार्य भी निरन्तर चल रहा था। मैं प्रेमचंद की कालक्रमानुसार जीवनी के लिए सामग्री को एकत्र कर रहा था। मैंने समझ लिया था कि इसके लिए प्रेमचंद के पत्रों तथा उन्हें लिखे पत्रों को एकत्र करना आवश्यक है। अमृतराय की पुस्तक 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' तथा मदन गोपाल की अंग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' पढ़ने के बाद यही सच सामने आया कि इन दोनों जीवनियों की रचना में पत्रों का महत्वपूर्ण योगदान है। ये दोनों ही जीवनियाँ लगभग एक ही समय में तैयार हुई थीं, लेकिन अमृतराय की जीवनी सन् 1962 तथा मदन गोपाल की जीवनी सन् 1964 में प्रकाशित हुई। मदन गोपाल की पुस्तक की भूमिका में 29 मई, 1962 की तिथि मुद्रित है, जिसका अर्थ है कि जब अमृतराय की जीवनी छप रही थी, तब ही मदन गोपाल ने अपनी अंग्रेजी जीवनी की पाण्डुलिपि प्रकाशक को दे दी थी, लेकिन प्रकाशक के विलम्ब के कारण वह सन् 1964 में छपकर आई। इस पर भी मदन गोपाल द्वारा खोजे गए प्रेमचंद के पत्रों का बड़ा सहयोग अमृतराय को 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' जीवनी के लिखने में मिला। अमृतराय ने 1958-59 में अपनी इस जीवनी पर कार्य करना आरम्भ कर दिया था और उन्हें इसका ज्ञान था कि मदन गोपाल ने प्रेमचंद के पत्रों का संग्रह किया है और वे इस खोजी कार्य में निरन्तर लगे रहते हैं। इस सम्बन्ध में मदन गोपाल को लिखा अमृतराय का पहला पत्र 7 जनवरी, 1959 का मिलता है जिसमें अमृतराय ने लिखा है कि इन दिनों मैं प्रेमचंद के जीवन-चरित पर काम कर रहा हूँ और इसी प्रसंग में आपका सहयोग चाहता हूँ। अभी आपसे मेरी यही विनय है कि कृपया उन पत्रों की नकल मुझे कर लेने दीजिए जो आपने एकत्र किए हैं। मैं उनको प्रकाशित

नहीं करूँगा। अपनी जीवनी के लिखने में मुझे उनकी आवश्यकता पड़ेगी। आशा है, इस सहायता से आप मुझको वंचित नहीं करेंगे। अमृतराय और मदन गोपाल में सन् 1959 के अन्त तक यह सहमति बन गई और जिसे अमृतराय ने 30 नवम्बर, 1959 के पत्र में लिखा भी कि मदन गोपाल के द्वारा प्रदत्त प्रेमचंद के पत्रों को दो खंडों में छापा जाएगा और दोनों पर सम्पादक के रूप में दोनों का नाम प्रकाशित होगा तथा मदन गोपाल को पहले खंड पर साढ़े सात प्रतिशत तथा दूसरे खंड पर पाँच प्रतिशत रॉयल्टी मिलेगी। अमृतराय की लिखित जीवनी 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' जब सन् 1962 में छपकर आई तो उन्होंने इसकी भूमिका में मदन गोपाल के इस सहयोग के सम्बन्ध में लिखा, ''इसके साथ मैं बंधुवर मदन गोपाल के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहता हूँ। मदन गोपाल जी ने मुंशी जी की साहित्य-सेवा पर अंग्रेजी में पहली पुस्तक 1944 में लिखी थी। तब से आज तक मदन गोपाल जी इस विषय पर काम कर रहे हैं। उनका प्रयत्न प्रशंसनीय है। मेरी इस पुस्तक के कितने ही महत्वपूर्ण उद्धरण उनके द्वारा संगृहित प्रेमचंद के पत्रों से लिए गए हैं। प्रेमचंद के पत्रों का यह संग्रह उनके बीस वर्ष के परिश्रम का परिणाम है। यदि इस संग्रह तक मेरी रसाई न होती, तो मुझे तो पुस्तक अधूरी-अधूरी लगती।''

मदन गोपाल और अमृतराय में पत्रों के उपयोग और प्रकाशन के सम्बन्ध में जो सहमति हुई थी और जो पत्रों में मौजूद थी, उससे अमृतराय के इस आभार का कोई मेल नहीं था। अत: मदन गोपाल का आहत होना स्वाभाविक था, क्योंकि अमृतराय ने 'प्रेमचंद : चिट्ठी-पत्री' के दोनों खंडों पर सम्पादक के रूप में उनका नाम प्रकाशित नहीं किया था। मदन गोपाल ने 14 दिसम्बर, 1962 को बड़े अपमान एवं आहत भावना से अमृतराय को पत्र लिखा कि तुमने जो आश्वासन मुझे दिए थे, वे सब तुमने नजरअंदाज कर दिए। मैंने पत्रों को ढूँढ़ने में बीस वर्ष लगाए, देश-भर में घूमा, उनकी नकल की, टाइप कराए और तीन हजार से अधिक राशि खर्च की और जब तुम दोनों भाइयों ने कुछ नहीं किया, तब मैंने पत्रों को खोजने का सर्वप्रथम प्रयास किया। तुम्हें प्रेमचन्द के पहले उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' तथा उनकी दो कहानियों 'बरात' और 'कातिल की माँ' की भी जानकारी दी, किन्तु इसका भी उल्लेख तुमने नहीं किया। मदन गोपाल ने लिखा कि तुमने मेरे साथ अन्याय किया है और अनुबन्ध तोड़ा है और मुझे यश और थोड़े से धन से वंचित किया है। प्रेमचंद जैसे महान व्यक्ति के पुत्र से ऐसे व्यवहार की कतई आशा न थी। इस समस्या का समाधान न निकला तो मुझे अदालत का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा। प्रेमचंद के पुत्र को कटघरे में देखकर मुझे दु:ख होगा। इस पत्र का कोई अनुकूल परिणाम नहीं निकला और मध्यस्थता के प्रयासों के असफल होने पर मदन गोपाल ने अपने वकील देविन्दर प्रताप वधवा के द्वारा 25 सितम्बर, 1963 को अमृतराय को नोटिस दिलवा दिया और मामला अदालत में पहुँच गया, किन्तु शीघ्र ही दोनों पक्षों में अगस्त, 1964 को समझौता हो गया जिसके अनुसार 'प्रेमचंद : चिट्ठी-पत्री' (दो भाग) पुस्तक में सम्पादक के रूप में अमृतराय के साथ मदन गोपाल का नाम भी छपा और उन्हें रॉयल्टी में भी अंशदान मिला और इस प्रकार मदन गोपाल ने प्रेमचंद के पुत्र से लड़ाई में विजय प्राप्त की।

यह एक अद्‌भुत संयोग ही है कि अमृतराय और मदन गोपाल लगभग एक ही समय में प्रेमचंद की जीवनी लिख रहे थे तथा दोनों के पास लगभग एक जैसी ही सामग्री थी, किन्तु एक हिन्दी में लिख रहा था तथा दूसरा अंग्रेजी में और दोनों में से किसी को नहीं मालूम था कि एक-दूसरे की लेखन-

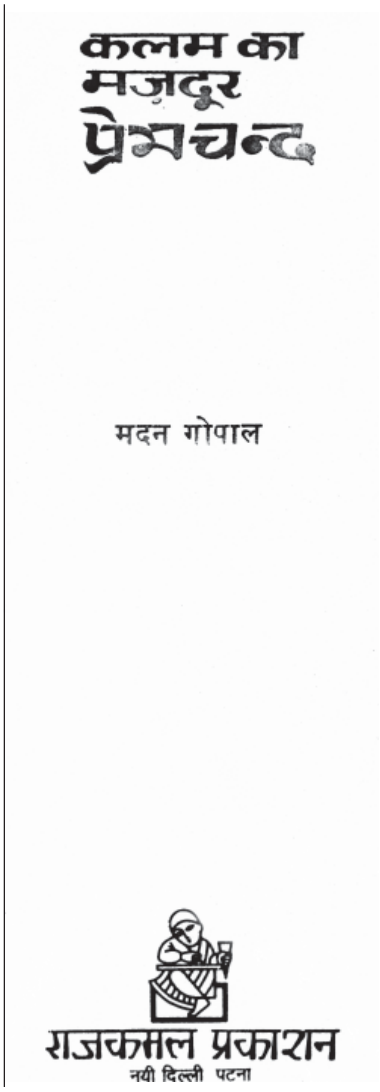

शैली क्या है। दोनों ही जीवनीकारों ने प्रेमचंद के पत्रों का बड़ी मात्रा में उपयोग किया, शिवरानी देवी की पुस्तक 'प्रेमचंद : घर में' से पर्याप्त सामग्री ली, समकालीनों के संस्मरणों का उपयोग किया, रचनाओं के सारांश दिए और जीवन को कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया, परन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अमृतराय ने अपनी जीवनी को जहाँ उपन्यास के रूप में लिखा है, वहाँ मदन गोपाल ने उसे जीवनी के रूप में प्रस्तुत किया है।

मदन गोपाल और अमृतराय की जीवनियाँ उत्कृष्ट, उपयोगी और प्रामाणिक कृतियाँ हैं, लेकिन जो स्वागत अमृतराय की जीवनी का हुआ, वह मदन गोपाल की अंग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' तथा उसके हिन्दी रूपान्तर 'कलम का मजदूर : प्रेमचंद' का नहीं हुआ, यद्यपि दोनों ही जीवनीकारों से अनेक ज्ञात-अज्ञात तथ्य छूट गए थे अथवा खोजने से रह गए थे।

मदन गोपाल ने प्रेमचंद की जीवनी के लिखने के बाद दो और महत्वपूर्ण कार्य किए- एक, 'प्रेमचंद की आत्मकथा' का लेखन तथा दूसरा उर्दू में उनके समग्र साहित्य को 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' शीर्षक से 24 खंडों में प्रकाशित कराना। 'प्रेमचंद की आत्मकथा' एक नया प्रयोग था। इसमें प्रेमचंद के उपन्यासों, कहानियों, लेखों आदि से आत्मकथात्मक अंशों को चुनकर तथा कालक्रमानुसार उसे आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मदन गोपाल के कृतित्व के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे प्रेमचंद के पहले अध्येता और जीवनीकार थे जिन्होंने प्रेमचंद के पत्रों, कहानियों आदि को खोजा और जीवन के कई दशक पूरी निष्ठा के साथ अर्पित किए। वे पहले प्रेमचंद के निष्ठावान विशेषज्ञ थे जिन्होंने अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी में प्रेमचंद की जीवनी लिखी और तीन भाषा के पाठकों तक प्रेमचंद को प्रामाणिकता के साथ पहुँचाया। प्रेमचंद की अंग्रेजी में जीवनी लिखकर उन्होंने अंग्रेजी-विश्व तक प्रेमचंद को पहुँचाने का महत् कार्य किया तथा उनकी कई कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद करके तथा अंग्रेजी में उन पर लेख लिखकर भी उन्होंने अपने उद्देश्य में और भी सफलता प्राप्त की। मदन गोपाल इस दृष्टि से भी अकेले लेखक एवं खोजी अध्येता थे कि उन्होंने प्रेमचंद के छोटे पुत्र अमृत राय द्वारा अनुबंध भंग करने पर उनसे टक्कर ली और जीत हासिल की। मदन गोपाल के पत्रों से यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद और अमृत राय के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था और वे चाहते थे कि अदालत में जाए बिना ही समझौता हो जाए, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अंत में समझौता ही हुआ, परन्तु वह अदालत के माध्यम से हुआ। उस समय ऐसा साहस शायद ही कोई कर सकता था। मदन गोपाल ने अपना जीवन एक पत्रकार तथा सरकारी पदों पर कार्य करते हुए व्यतीत किया, परन्तु उन्होंने प्रेमचंद के अध्ययन, शोध एवं जीवनी-लेखन के लिए लगभग छः दशक अर्पित किए। वे साहित्य के लिए तो 'आउटसाइडर' ही थे, लेकिन उन्होंने साहित्य के लिए वह कार्य किया जो साहित्य को ओढ़ने-बिछाने वाले भी नहीं कर पाए। 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' का प्रकाशन तो ऐतिहासिक घटना है जिसे कोई संस्था या अकादमी नहीं कर पाई तथा 125वीं वर्षगाँठ पर भारत सरकार द्वारा स्थापित 'प्रेमचंद समिति' भी नहीं कर पाई जिसे सरकार से 5-6 करोड़ रुपये मिले थे, परन्तु मेरे लिए मदन गोपाल का विशेष महत्व है। मदन गोपाल ने प्रेमचंद के शोध और अध्ययन का जो मार्ग बनाया था, उसने मेरा रास्ता सुगम बनाया और प्रेमचंद के अज्ञात-अप्राप्य साहित्य और दस्तावेजों को खोजने के लिए प्रेरित किया, यद्यपि यह कहना अनुचित होगा कि अमृत राय के कार्य से मुझे प्रेरणा तथा शक्ति नहीं मिली, परन्तु मदन गोपाल ने मेरे कार्य की सराहना की और 'आजकल' पत्रिका में प्रकाशित एक इंटरव्यू में मदन गोपाल ने कहा था, ''मेरे बाद सबसे अच्छा काम डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने किया है। मैं उनके कार्य को महत्वपूर्ण मानता हूँ। उन्होंने निश्चय ही मेरे काम को आगे बढ़ाया है।''

मदन गोपाल के सम्बन्ध में एक तथ्य और महत्वपूर्ण है। वे प्रेमचंद तक सीमित नहीं थे। उन्होंने तुलसी, भारतेन्दु, पत्रकारिता आदि पर भी पुस्तकें लिखीं, लेकिन वे प्रेमचंद-विशेषज्ञ तथा प्रेमचंद के जीवनीकार के रूप में ही पहचान बना सके। वे साहित्य के दक्षिण-वाम किसी गुट से नहीं जुड़े और स्वतंत्र साहित्यकार के रूप में कार्य करते रहे। यह उनकी अपनी विशिष्टता थी। वे साहित्य के एकांत साधक थे, साहित्य की राजनीति तथा साहित्यिक समारोहों, उत्सवों तथा पुरस्कार-प्रसंगों से उनका कोई लेना-देना न था। क्या यही वे कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप जब 16 दिसम्बर, 2008 को उनका देहावसान हुआ तो हिन्दी संसार के किसी भी कोने से संवेदना और श्रद्धांजलि का एक स्वर भी नहीं निकला।

मदन गोपाल का प्रेमचंद सम्बन्धी कार्य ऐतिहासिक महत्व का है। प्रेमचंद के जीवन और साहित्य को पूर्णत्व देने में उनका योगदान अनुपम और अप्रतिम है। उन्होंने अकेले जितना कार्य किया है, वह संस्थाएँ भी नहीं कर पातीं, फिर हिन्दी समाज की यह उदासीनता और उपेक्षा उसकी संवेदनहीनता का प्रमाण है। हिन्दी का एक साधक जिसने निःस्वार्थता तथा निष्ठापूर्वक साहित्य की सेवा की तथा उसके परिदृश्य का विस्तार किया, वह संसार से इस प्रकार चुपचाप चला जाए तो यह हमारे लिए लज्जा की बात है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः हिन्दी के कुछ साहित्यकार अपना अमृत-महोत्सव मना रहे हैं, अन्यथा यह कोई गारंटी से नहीं कह सकता कि उनके दिवंगत होने पर श्रद्धा के दो फूल चढ़ाने वाला उनका कोई भक्त अवश्य ही उपस्थित होगा। हिन्दी भाषा और साहित्य की दुर्दशा का यह भी एक बड़ा कारण है कि हम अपने साहित्यकारों से प्रेम नहीं करते। हिन्दी साहित्य इतने दलों, वादों, क्षेत्रों और विचारों में बँट गया है कि उसमें मदन गोपाल जैसे तटस्थ तथा वादरहित साहित्यकार की मृत्यु पर कोई भाव जाग्रत नहीं होता। हमें इस भावहीनता एवं उपेक्षा भाव को बदलना होगा और हिन्दी भाषा व साहित्य की गौरव-रक्षा के लिए अपने मन के दरवाजों को सबके लिए खोलना होगा।

आइए, हम सभी मिलकर हिन्दी के मौन साधक मदन गोपाल के दिवंगत होने पर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करें और उनकी आत्मा की शांति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करें। आमीन।

ए-98, अशोक विहार, फेज-I, दिल्ली-110052

मीडिया

लोकतंत्र का मर्सिया

श्याम कश्यप

देश का बौद्धिक नेतृत्व कभी राजनेताओं के साथ मिलकर साहित्य, संस्कृति, शिक्षा और पत्रकारिता-जैसे क्षेत्रों के बुद्धिजीवी भी किया करते थे। साहित्य और पत्रकारिता में तब आज-जैसी विराट खाई भी नहीं थी। सही भाषा, सटीक अभिव्यक्ति और आकर्षक गद्य-शैली का प्रशिक्षण लोग साहित्यकारों और पत्रकारों के लेखन से पाते थे। ज्ञान के वैविध्य और पढ़ने की ललक अभी मंद नहीं पड़ी थी। अभी भी राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के आदर्श धूमिल नहीं पड़े थे। लोकतंत्र का चौथा स्तंभ पूरी चौकसी और निर्भयता के साथ शेष तीनों पर नजर रखता था। सिर्फ नजर ही नहीं, बहकते कदमों पर चाबुक फटकारने और लगाम कसने में भी सक्षम था। अंग्रेजी हो या हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाएँ, लोग देश, दुनिया और समाज की समझ हासिल करने के लिए ही नहीं बल्कि अच्छी भाषा सीखने के लिए भी दैनिक समाचारपत्रों और 'जनयुग' (तब साप्ताहिक) व 'दिनमान'-जैसी पत्रिकाओं के नियमित पाठक बनते थे। आज सभी क्षेत्रों में चौतरफा गिरावट के बीच शायद सर्वाधिक पतन राजनीति और मीडिया में ही दिखाई देता है। आजादी के बाद हमारे रहबरों ने विकास का जो रास्ता चुना था और जिस बुद्धिहीन, अमानवीय और अतिशय भ्रष्ट अफसरशाही के भरोसे उस पर जिस तरह से अमल किया था, उसकी स्वाभाविक परिणति इस अंधी गली में ही होनी थी।

पुण्य प्रसून वाजपेयी ने इसी पाप-गाथा का बयान किया है। उनकी दोनों पुस्तकें 'राजनीति मेरी जान' और 'डिजास्टर : मीडिया एंड पॉलिटिक्स' वस्तुतः समकालीन राजनीति और मीडिया की पड़ताल करते हुए, दोनों के छिपे रिश्तों और इस सर्वव्यापी पतन को ही बेपर्द करती हैं। लेकिन यह भी एक दुखद विडम्बना ही है कि सामाजिक सरोकार वाले एक मेधावी पत्रकार के रूप में पुण्य प्रसून जहाँ अपने सूक्ष्म विश्लेषण और बेबाक टिप्पणियों की छाप छोड़ते हैं, वहीं भाषा से लेकर भावाभिव्यक्ति तक टेलीविजन की चिरपरिचित हड़बड़ी और अगम्भीरता तथा कई बार निर्णय के सरलीकरण के शिकार भी नजर आते हैं। ये दोनों पुस्तकें इस बात की भी मिसाल हैं कि किसी माध्यम के दुष्प्रभाव कैसे किसी अन्य माध्यम की अंतर्वस्तु को क्षति पहुँचा सकते हैं। दोनों पुस्तकों के शीर्षक ही इस अगम्भीर, चालू और बाजारू भाषा-शैली के नमूने नजर आते हैं। दुश्मन से जंग अपने हथियारों से लड़ी जाती है, दुश्मन के हथियारों से नहीं। ऐसे उधार के भोंथरे हथियार न केवल निष्फल साबित होते हैं बल्कि खुद अपनी क्षति भी कर डालते हैं। और सही हथियारों की कमी कम-से-कम पुण्य प्रसून में तो नजर नहीं आती।

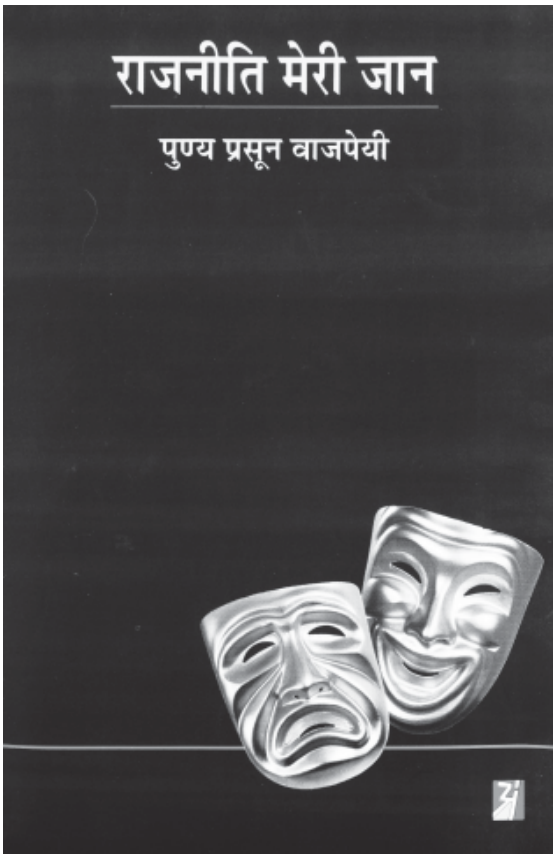

पुस्तकों के शीर्षकों की तरह संकलित लेखों और टिप्पणियों के शीर्षक और उनकी विषयवस्तु ही नहीं, भाषा-शैली भी यदि इन चालू मुहावरों और बाजारूपन से भरसक बच सके हैं तो इसलिए कि इन्हें दैनिक समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के लिए लिखा गया था। दूसरे, 'बुद्धू बक्से' में आने से पहले लेखक के पास लिखने और 'प्रिंट' में काम करने का अच्छा-खासा अनुभव था और उसने माध्यम बदल जाने के बाद भी कलम और कर्म को एक-करते रिश्तों से बिल्कुल संबंध-विच्छेद नहीं कर लिया था। समकालीन सर्वग्रासी संहम और पतन के बीच टेलीविजन की तुलना में कम-से-कम 'प्रिंट' कुछ तो अपनी आबरू बचाए हुए है। लेकिन कब तक? बाजारवाद की अंधी होड़ और मुनाफे की अमिट भूख ने आखिरकार 'प्रिंट' को भी तो रंगीन टेलीविजन की भद्दी नकल के रास्तों पर ठेल दिया है। संतोष की बात बस यही है कि 'सरोकार के मीडिया' को 'मुनाफे के मीडिया' में बदलते और सत्ता के गलत गणित में उलझाकर लोकतंत्र को धीमी मौत मरते देखनेवाले पुण्य प्रसून

ने अपनी इन दोनों पुस्तकों में मीडिया और संसदीय लोकतंत्र की संवेदना-शून्य राजनीति के इस बदलते चरित्र का भी बेबाक विश्लेषण किया है।

संकलित लेखों और टिप्पणियों से जनसाधारण और उसकी तकलीफों से लेखक के आत्मीय सरोकार न सिर्फ जगह-जगह उजागर होते हैं, बल्कि इस निजाम को बदलने की छटपटाहट-भरी आकांक्षा उसके स्वर में सच्चाई का जोश और तेजस्विता की लौ भी जगाती है। 'राजनीति की अंधी गली' शीर्षक पहले ही लेख में यह बताकर कि ''नौ फीसदी लोग बासठ फीसदी संसाधनों का सुख भोगते नजर आएँगे। जबकि पैंतीस फीसदी लोग अठारह फीसदी संसाधनों का और बाकी छप्पन फीसदी लोगों के लिए बीस फीसदी संसाधन हैं,'' लेखक ने सही जगह ऊँगली रखी है : ''हर वह तबका जो एकजुट हो राजनीति की शक्ल बदल सकता है, उसे उसी राजनीति पर टिकाना है जो बाँटती है।'' पुण्य प्रसून के अनुसार ''आज के हालात ने राजनीतिक दलों और नेताओं का एक नया चेहरा सामने रखा है। यह चेहरा पहली बार अहसास करा रहा है कि समाज बँटे तभी राजनीति हो सकती है। धर्म और जाति के आधार पर गुँथे लोग एक-दूसरे को मारने-मरने पर उतारू हो जाएँ तभी नेता अपने वोट बैंक की गिनती कर राजनीतिक सौदेबाजी कर सकते हैं। वर्गीय आधार पर विकास का ढाँचा खड़ा करने की बात उठा कर ही राजनीतिक दल सत्ता बरकरार रख सकते हैं।'' लेखक का मानना है कि यहीं से आज की संसदीय राजनीति का लोकतंत्र शुरू होता है। इस छद्म लोकतंत्र के चोर दरवाजों और खोखली होती जा रही जड़ों की पड़ताल करते हुए लेखक ने अपनी दोनों पुस्तकों में (हालाँकि दूसरी किताब में मुख्य फोकस मीडिया पर है) धीमी मौत मरते हुए लोकतंत्र का बैरोमीटर प्रत्यक्ष किया है। इस लिहाज से ये दोनों पुस्तकें एक अर्थ में हमारे लोकतंत्र का मर्सिया हैं जो पूरी-पूरी बेशर्मी के साथ जनसत्ता से धनसत्ता में बदल चुका है।

पुण्य प्रसून इन निष्कर्षों तक एकाएक ही नहीं पहुँचे हैं। इनके पीछे आर्थिक शोषण

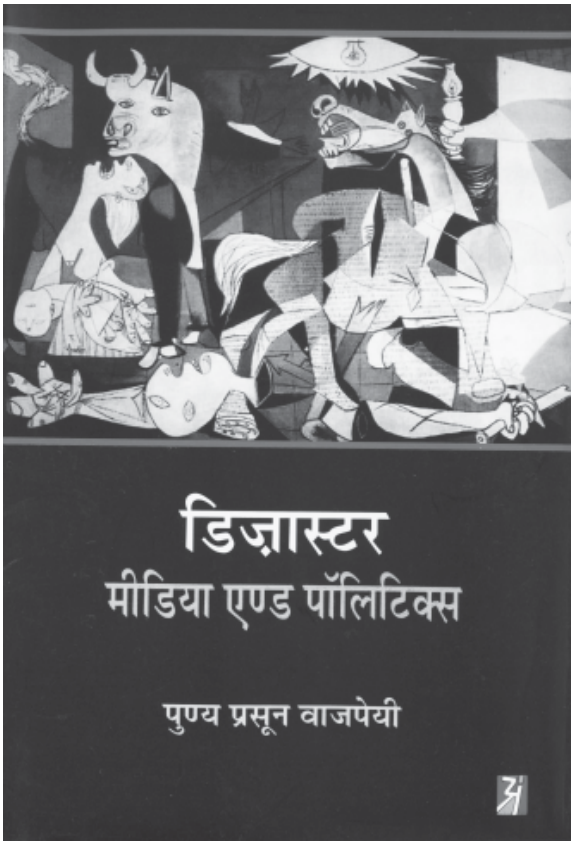

के ठोस आंकड़े और राजनीतिक भटकाव के ऐतिहासिक तथ्य हैं। जैसाकि वे 'बढ़ता ही गया सपने और सच्चाई का फासला' शीर्षक एक अन्य लेख में यह बतलाकर कि ''भारत में 52 फीसदी यानी 58 करोड़ लोग सिर्फ दस रुपये प्रतिदिन पर गुजारा करते हैं। 26 करोड़ लोग पाँच रुपये प्रतिदिन पर गुजारा करते हैं। 13 करोड़ लोग ढाई रुपये प्रतिदिन पर अपना गुजारा करते हैं,'' लिखते हैं कि ''आजादी के तत्काल बाद कांग्रेसी नेताओं ने महात्मा गांधी के नेतृत्व की अनदेखी की थी।.... कांग्रेस सत्ता में लिप्त हो गई। उसने अपनी वैधता के लिए गांधी का सहारा लिया, लेकिन उनके रास्ते को भुला दिया।'' भूमिसुधारों से लेकर बैंकों के राष्ट्रीयकरण तक की विफलता और शिक्षा से लेकर समाज-कल्याण तक की मुजरिमाना अनदेखी यही साबित करती है कि संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों को कभी गंभीरता से लिया ही नहीं गया, उन पर अमल की बात तो दीगर है। अब तो बाजारवाद की खुली अर्थव्यवस्था और नई आर्थिक नीतियों के दौर में सत्ता ने कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से ही पल्ला झाड़ लिया है और जैसा कि लेखक ने 'भूमिका' में इंगित किया है कि लोकतंत्र की नई परिभाषा गढ़कर राज्य ने अपनी भूमिका सिर्फ एक एजेंट-भर की रखी है।

मंडल और कमंडल की विध्वंसक राजनीति को अपने कई लेखों और टिप्पणियों में बेनकाब करते हुए लेखक ने साम्प्रदायिकता के घिनौने चेहरे को जगह-जगह उजागर किया है। साम्प्रदायिक दंगों और हिंसा का जायजा लेते हुए लेखक ने एक ओर यदि उसमें राज्य की भूमिका चिह्नित की है, तो दूसरी ओर 'गुजरात की हिंसा के अर्थ' जैसे लेख में मोदी के तथाकथित विकास के झूठ प्रचार की भी चिंदियां उड़ा डाली हैं : ''80 के दशक की मजदूर विरोधी हिंसा, 90 के दशक में धर्मांतरण को लेकर हिंसा और उसके बाद गोधरा या उसके बाद हुई हिंसा के दौरान पूँजी लगातार मिसटती गई। रोजगार के साधन खत्म हुए और राजनीति के जरिए धन की आवाजाही में बढ़ोतरी हुई।.... पिछले 15 सालों के दौरान सरकार की नीतियों की वजह से और छोटे-बड़े व्यापारियों के पूँजी बनाने के हथकंडों के कारण राज्य के छोटे-बड़े बीस हजार उद्योग बंद हुए हैं। इसमें दिहाड़ी करने वाले दस लाख से ज्यादा मजदूर बेरोजगार हुए।'' लेखक के शब्दों में ''इसी दौर में सहकारिता बैंक भी टूटे। करीब दो दर्जन से ज्यादा कोआपरेटिव बैंक इस वजह से डूबे कि उनमें जो गोलमाल हुआ वह सरकार की नाक तले हुआ। एक मूक सहमति या भागेदारी हमेशा बनी रही।'' इस राज्य-प्रेरित साम्प्रदायिक और आर्थिक विध्वंस का एक पहलू यह भी है : ''चुनाव आयोग ने इस बार यानी गोधरा और उसके बाद के दंगों में चार लाख लोगों के पलायन का आंकड़ा दिया जबकि 1992 में अयोध्या संकट के वक्त बारह लाख लोगों का पलायन हुआ था।'' पुण्य प्रसून लेख के अंत में यह उचित सवाल उठाते हैं कि ''खुद प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की बोली का पग-पग पर बदलना क्या हिंसा को एक मूक सम्मति नहीं देता?'' और स्वयं उन्हीं का यह जवाब : ''अगर हाँ, तो संकट सिर्फ गुजरात का ही नहीं है, इसके व्यापक फलक हैं।'' कहना न

होगा कि लेखक ने इस किताब में (और प्रकारांतर से दूसरी किताब में भी) इस व्यापक फलक पर मुकम्मिल किन्तु अत्यंत भयावह तस्वीरें दिखाने में कोई कोताही नहीं बरती है। धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल और धर्म व राजनीति के इस घिनौने मेल के लिए लेखक ने अपने कई लेखों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आरएसएस), विश्व हिन्दू परिषद और भाजपा को कहीं नहीं बख्शा है।

नेताओं की नई पौध का जिक्र करते हुए पुण्य प्रसून लिखते हैं कि ''धर्म से इतर जाति की राजनीति ने राजनीतिक दलों या कहें नेताओं का आतंक समाज के भीतर कहीं ज्यादा तीखेपन से फैलाया है। वैसे नेता कुकुरमुत्ते की तरह उभरे, जिनकी मौजूदगी ही अपराध का एक अदृश्य आतंक फैलाती है। ऐसे चुने हुए नुमाइंदों की संख्या करीब पाँच सौ है'' और ''इन्हें अगर आसरा मिला है तो वह विकास की राजनीति से।.... यानी धर्म और जाति की राजनीति नहीं चली तो राजनीति के नए चेहरे ने विकास की एक नई लकीर खींच सबको अपने ऊपर आश्रित कर लिया।'' यही वजह है कि वे इस तथाकथित 'विकास' के विनाश को उजागर करते हुए लिखते हैं कि ''नर्मदा बाँध से लेकर टिहरी के डूबने और विशेष आर्थिक क्षेत्र से लेकर सिंगुर के किसानों की जमीन टाटा के हवाले करने की राजनीति से'' नया खेल शुरू हो गया : ''सत्ता के भीतर पूँजी बनाने का एक ऐसा खेल....जिसमें सत्ता ही धर्म और जातीय राजनीति को लील गई, लेकिन पहली बार राजनीति से आगे पूँजी से पूँजी बनाने का ऐसा सिलसिला चल निकला जिसने लोकतंत्र को भी कठघरे में खड़ा कर दिया।'' इसीलिए वे इस 'विकास' की राजनीति को 'विकास का आतंकवाद' कहते हैं क्योंकि इससे होनेवाली भयावह मौतें आतंकवादी हिंसा से भी कहीं ज्यादा हैं। पुण्य प्रसून द्वारा दिए गए कुछ आँकड़े आँखें खोलने के लिए पर्याप्त हैं :

1 बीते एक दशक में एक लाख बीस हजार किसानों ने आत्महत्या की 1 इसी एक दशक में चालीस फीसदी खेती की जमीन उद्योगपतियों के हाथों गिरवी हो गई 1 उससे जुड़े करीब पंद्रह हजार किसान परिवार तबाह हो गए : तबाही का मतलब मौत 1 सड़क की जिस चतुर्भुज परियोजना के लिए बीजेपी वाजपेयी का गुणगान करती है, वहीं एक लाख साठ हजार गाँवों में अब भी पक्की सड़क नहीं 1 जो सड़क बनी है वह उद्योगों को खेतों की जमीन तक पहुँचाती है 1 जिन इलाकों में विकास की लकीर विदेशी पूँजी खींचेगी वहीं के साढ़े सात करोड़ बच्चे अब भी स्कूल नहीं जा पाते 1 ढाई करोड़ बच्चे मजदूरी करके जीते हैं 1 कुपोषण के शिकार दुनियाभर के बच्चों के एक-तिहाई इन्हीं इलाकों में हैं 1 यहीं हर साल इक्कीस लाख बच्चों की मौत कुपोषण से होती है 1 देश में चार करोड़ रजिस्टर्ड युवा बेरोजगार हैं : शहर-शहर, गाँव-गाँव तलाशने पर यह आंकड़ा दस करोड़ तक पहुँच जाएगा 1 दूसरी तरफ : सिर्फ राष्ट्रीयकृत बैंकों को दस लाख करोड़ से ज्यादा का चूना उद्योगपति लगा चुके हैं 1 एक दशक में देशभर में अड़तालिस परियोजनाओं के लिए पच्चीस लाख से ज्यादा नागरिकों को विस्थापित होना पड़ा 1 मुम्बई के विकास के नाम पर 84200 घर ढहाए गए जो झोंपड़पट्टी के गरीबों के थे : सुनामी में ढहे 30300 घरों से तिगुने 1 नागपुर में पाँच करोड़ का अंतर्राष्ट्रीय कार्गो सबको मंजूर है, सवा करोड़ में विदर्भ के सारे किसानों का कर्ज निपट जाएगा, यह मंजूर नहीं।

इसीलिए पुण्य प्रसून विकास के नाम पर विनाश की इस राजनीति को उचित ही विकास का आतंकवाद कहते हैं। इसी प्रसंग में वे लिखते हैं कि ''विकास की राजनीति ने एक ऐसा सोच भी भद्र तबके लिए गढ़ दिया है कि लाखों लोगों को बिना किसी प्राकृतिक आपदा के राज्यसत्ता ही बेघर कर दे या खत्म कर दे तो भी यह भद्रलोक बेपरवाह बना रहेगा। यही नहीं, यह तबका उन नीतियों के इंतजार में है जो लाखों लोगों की रोजी-रोटी छीनकर किसी छोटे शहर को मुम्बई और मुम्बई को शंघाई बनाने का सपना दिखाएँ।'' इसे आगे बढ़ाकर यह भी कहा जा सकता है कि भारत, दैट इज इंडिया को अमेरिका बनाने का सपना दिखाएँ।

इसी सपने को भुनाने का मतलब है मीडिया। मीडिया, यानी टेलीविजन, जो इसी भद्रलोक के लिए और इन्हीं सर्वनाशी-सर्वग्राही नीतियों की सेवा में लगकर लोकतंत्र की एक ऐसी छद्म सहमति उभार रहा है जहाँ उससे परे किसी विरोध, किसी विकल्प, किसी प्रतिरोध और किसी संघर्ष के लिए कोई 'स्पेस' नहीं है। ठीक यही मुख्यत: दूसरी किताब का विमर्श है जो मीडिया, विशेष रूप से टेलीविजन की खाई-पियी-अघाई हुई रंगीन दुनिया के काले सच को सामने लाती है। पुण्य प्रसून के शब्दों में, ''पूँजीवादी समाज के विज्ञान तथा तकनीक का सर्वोच्च आविष्कार यह टीवी, समाज का दर्पण नहीं है, बल्कि स्थिति ठीक विपरीत है, जो समाज वास्तव में नहीं है यह टेलीविजन उसी का दर्पण है'', इसीलिए ''टेलीविजन के विभिन्न विश्लेषणों तथा विज्ञापनों में जिस जीवन-यथार्थ को उकेरा जाता है, वह असल में मीडिया का अपना तैयार 'हाइपर रियलिटी' है-जिसमें जीवन का वास्तविक यथार्थ निर्वासित है।'' जीवन का यही 'वास्तविक यथार्थ' इन दोनों पुस्तकों के लेखों और टिप्पणियों में बार-बार झलकता है। वह चाहे विदर्भ के किसानों की आत्महत्याएँ हों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के खाद-बीज के आत्मघाती दुश्चक्र में फाँसने के हथकंडे, चाहे नक्सलवाद के नाम पर आदिवासियों का निर्मम संहार और संविधान प्रदत्त नागरिक अधिकारों का खुला उल्लंघन अथवा विकास के नाम पर विनाश और विस्थापन के रास्ते जनसाधारण को मौत की नींद सुलाता आर्थिक आतंकवाद।

कुछ सरलीकरणों और बीच-बीच में भाषा-शैली और वाक्य-विन्यास की कुछ खटकने वाली असावधानियों को अगर नजरअंदाज कर दिया जाए, तो पुण्य प्रसून वाजपेयी की ये दोनों पुस्तकें अत्यंत विचारोत्तेजक और पठनीय हैं। इन्हें मीडियाकर्मियों, लेखकों और ऐक्टिविस्टों को ही नहीं, हिन्दी के आम पाठकों को भी अवश्य पढ़ना चाहिए।

राजनीति मेरी जान (मूल्य : रु. 300/-), डिजास्टर : मीडिया एंड पॉलिटिक्स (मूल्य : रु. 200/-)/ दोनों के लेखक : पुण्य प्रसून वाजपेयी/ दोनों के प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन, सी-56/ यूजीएफ-IV, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद-201005

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एन्क्लेव, सी-1, दिल्ली-110096

पाकिस्तानी राजनीति की विस्फोटक सच्चाइयाँ

प्रभात रंजन

पिछले साल पाकिस्तानी मूल के दो अंग्रेजी लेखकों की पहली कृतियों की विश्वव्यापी चर्चा रही–दनियाल मुइनुद्दीन के पहले कहानी–संग्रह इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स और मो. हनीफ के पहले उपन्यास ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज (मसला विस्फोटक आमों का)। हनीफ ने समकालीन पाकिस्तानी राजनीति, उसकी विद्रूपताओं को गल्पात्मक ढंग से कहने का प्रयास किया है। ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज में पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह जनरल जिया उल हक की मृत्यु से जुड़ी परिस्थितियों को कथा का आधार बनाया गया है। उनकी मृत्यु के बीस साल बाद भी यह गुत्थी नहीं सुलझ पाई है कि जिस विमान दुर्घटना ने जनरल जिया के ग्यारह साल की तानाशाही का अंत कर दिया वह स्वाभाविक ही थी या उसके पीछे कोई गहरी साजिश थी।

यह एक अजीब संयोग है कि भारतीय समाज और राजनीति की विडम्बनाएँ भारतीय–अंग्रेजी लेखकों की रचनाओं में नहीं दिखाई देती हैं। अमिताव कुमार ने अपनी पुस्तक बॉम्बे, लन्दन, न्यूयॉर्क में इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं। वे लिखते हैं कि ज्यादातर भारतीय अंग्रेजी उपन्यासों में भारतीय जन–जीवन नहीं आता है। अगर आता भी है तो सतही तौर पर। वे सलमान रुश्दी के उपन्यास ग्राउंड बिनीथ हर फीट का उदाहरण देते हैं। उपन्यास में पीलू दूधवाला नामक एक प्रांतीय नेता है, उसके चरित्र की एकमात्र विशेषता लेखक उपन्यास में बताता है कि वह गलत अंग्रेजी बोलता है। प्रांतीय नेता के रूप में लालू प्रसाद पर आधारित उस चरित्र के जीवन के विरोधाभासों, विडम्बनाएँ उपन्यास में उभर कर नहीं आती हैं। गोया गलत उच्चारण के साथ अंग्रेजी बोलना बहुत बड़ा दोष हो। इसके विपरीत पाकिस्तानी लेखकों मोहसिन हामिद, मो. हनीफ आदि की सबसे बड़ी ताकत ही यही कही जा सकती है कि उनकी रचनाओं में पाकिस्तानी समाज के अन्तर्विरोध बहुत विश्वसनीय तरीके से उभर कर आते हैं, अँधेरी सच्चाइयाँ सामने आती हैं। शायद इसी कारण, जैसे–जैसे वहाँ के समाज का संकट गहराता जा रहा है पाकिस्तानी अंग्रेजी लेखकों की रचनाओं की माँग विश्वव्यापी स्तर पर बढ़ती जा रही है।

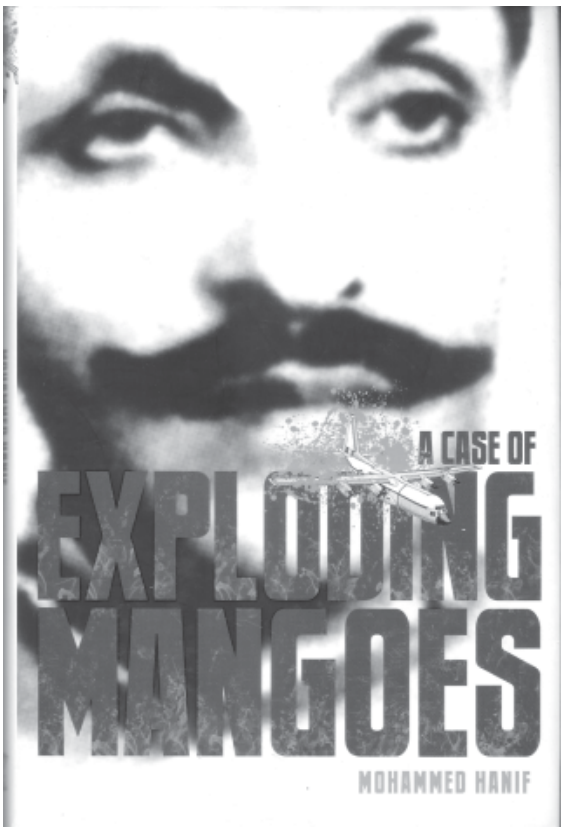

ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज पॉलिटिकल थ्रिलर की तरह पढ़े जाने की माँग करता है। उपन्यास की कथा का सन्दर्भ भले बीस साल पुराना हो, लेकिन इसमें समकालीन अनुगूँजें साफ सुनाई देती हैं। जिस समय उपन्यास का प्रकाशन हुआ संयोग से उस समय पाकिस्तान जनरल परवेज मुशर्रफ की सैनिक तानाशाही झेल रहा था। नाटो देशों की सेनाएँ अफगानिस्तान में तालिबान को नेस्तनाबूद करने के संकल्प के साथ लड़ रही हैं, पाकिस्तान के अन्दर धर्म के नाम पर आतंकवाद बढ़ता जा रहा है, पाकिस्तान में एक और राष्ट्रीय नेता बेनजीर भुट्टो की हत्या हो गई और संसार भर में अल–कायदा का खतरा बढ़ता जा रहा है। यही सन्दर्भ उपन्यास की कथा को प्रासंगिक बनाते हैं। लेखक ने उपन्यास के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि पाकिस्तान की राजनीति जिस तरह से सेना के जनरलों, जेट विमानों और जिहादियों के कब्जे में चली गई है, जिस तरह वहाँ का समाज इस राजनीतिक गठबंधन के दुष्परिणामों को भोग रहा है, इस सबकी शुरुआत एक तरह से जनरल जिया उल हक के काल में ही हो गई थी। उपन्यास में इस्लामाबाद को दुश्चक्रों और रात्रिभोजों के भंवर के रूप में चित्रित किया गया है।

उपन्यास की कथा के मूल में जनरल जिया उल हक के शासनकाल की वे भयावह सच्चाइयाँ हैं जिन्होंने पाकिस्तान की राजनीति को निर्णायक ढंग से प्रभावित किया और उनकी मौत से जुड़ी

परिस्थितियाँ हैं। 17 अगस्त 1988 को पंजाब सूबे के बहावलपुर में पाकिस्तानी बेड़े में अमेरिकी मदद के तौर पर शामिल किए गए नए टैंकों की प्रदर्शनी देखने के बाद पाकिस्तान के राष्ट्रपति का विमान पाक वन (हरक्यूलिस सी-130) राष्ट्रपति के अलावा सेना के कुछ प्रमुख जनरलों और पाकिस्तान में अमेरिका के राजदूत आर्नोल्ड राफेल को लेकर राजधानी इस्लामाबाद के लिए उड़ा। कुछ ही देर में विमान हवा में कलाबाजियाँ खाने लगा और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए। जिया उल हक समेत विमान में सवार सभी यात्री मारे गए। विमान दुर्घटना की जाँच का कोई ठोस परिणाम आज तक सामने नहीं आ पाया। अमेरिकी जाँच एजेंसियों की रपट में चाहे जो कहा गया हो पाकिस्तान का अवाम यह मानता है कि वह दुर्घटना वास्तव में जनरल जिया की हत्या की किसी गहरी साजिश का नतीजा थी। उस साजिश को लेकर तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित हैं। जिनको उपन्यास में लेखक ने कथा का आधार बनाया है। यह सचमुच एक रहस्य है कि दुनिया के सबसे मजबूत समझे जाने वाले जहाजों में से एक हरक्यूलीस सी-130 आखिर किस तरह दुर्घटनाग्रस्त हो गया।

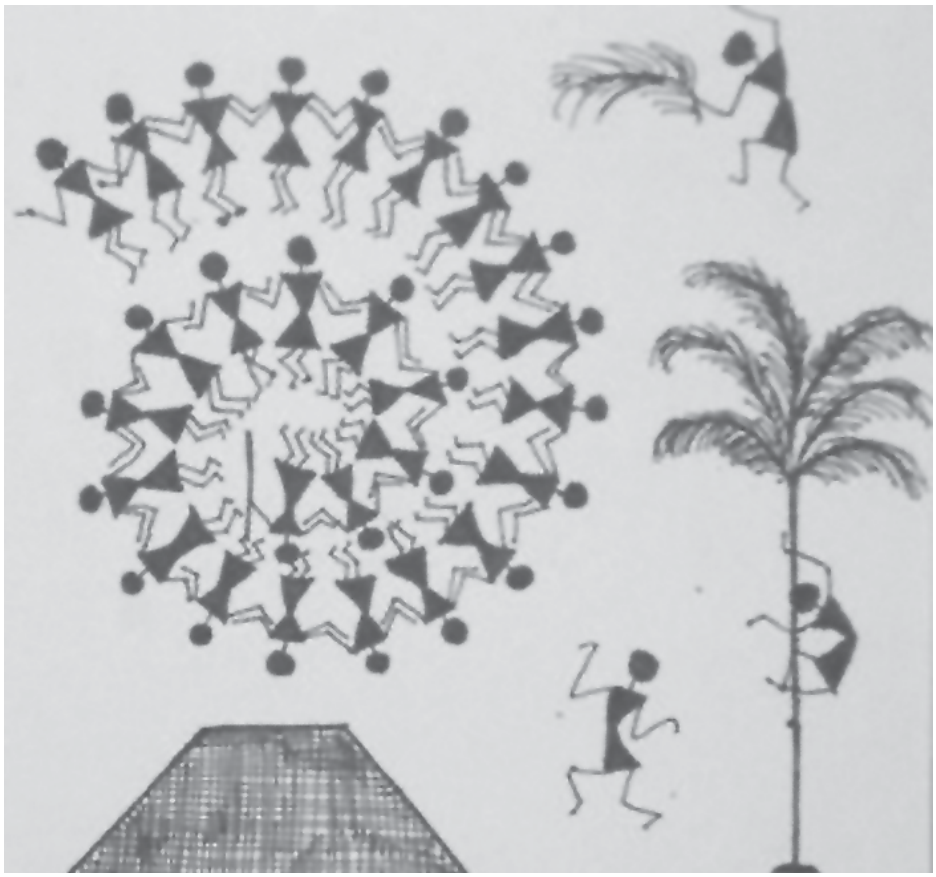

अपने सुरक्षा प्रमुख से जिया उल हक अक्सर पूछते रहते थे कि मुझे कौन मारना चाहता है। ब्रिगेडियर ताहिर मेंहदी का जवाब होता था-हर कोई। वास्तव में इस दुर्घटना के अनेक साजिशकर्ता माने जाते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि जिया उल हक से उकतायी सी.आई.ए. का हाथ इस दुर्घटना के पीछे था, जिया उल हक उसके लिए बोझ बनते जा रहे थे। जिया ने पाकिस्तान की सत्ता जुल्फिकार अली भुट्टो का तख्तापलट कर हथियाई थी और बाद में जिया ने उनको फाँसी पर भी लटका दिया। एक अन्य कहानी के अनुसार इसी का बदला लेने के लिए भुट्टो के बेटे मुर्तजा भुट्टो ने इस साजिश को अंजाम दिया। पाकिस्तान में किसी भी तरह की दुर्घटना हो तो उसके सूत्र सबसे पहले भारत में ढूँढ़े जाते हैं। इसलिए कुछ लोग आज भी यह मानते हैं कि वास्तव में इस भयानक हादसे के पीछे भारत की खुफिया एजेंसी का हाथ था। कुछ लोग इसके पीछे रूसी खुफिया एजेंसी के.जी.बी. का हाथ मानते हैं, क्योंकि पाकिस्तान रूस के खिलाफ अमेरिका की मदद कर रहा था।

लेखक ने उपन्यास में इस दुर्घटना की इन सभी पहलुओं से पड़ताल करने की कोशिश की है। लेकिन अगर उपन्यास की कथा साजिश की इन्हीं सम्भावनाओं तक सिमटकर रह जाती तो यह उपन्यास कम खोजपूर्ण पत्रकारिता का नमूना अधिक प्रतीत होती। केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज में लेखक ने इस साजिश के अनेक सूत्रधारों की कल्पना की है, अनेक सम्भावित पात्रों का सृजन किया है, लेखक के अनुसार जिनका इस षड्यंत्र में हाथ हो सकता था। इससे न केवल उपन्यास की कथा में रोचकता पैदा हुई है, बल्कि एक धर्मभीरु तानाशाह की तथाकथित हत्या की परिघटना को व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने में मदद भी मिलती है।

उपन्यास के अनुसार एक साजिशकर्ता उपन्यास का कथावाचक अली शिगरी है, जो पाकिस्तान की वायुसेना में अंडर ऑफिसर है। उपन्यास के आरम्भ में ही वह दावा करता है कि जनरल की हत्या में उसका हाथ था और वह अकेला आदमी है जो विमान में चढ़ा जरूर, लेकिन चमत्कारिक ढंग से बच गया-उस तानाशाह की हत्या के षड्यंत्र की दास्तान सुनाने के लिए, जिसने कानून के शासन के स्थान पर धर्म के शासन की सत्ता स्थापित की, उस धार्मिक कट्टरता को पनाह दी, जिसकी कोख से मुस्लिम आतंकवाद का जन्म हुआ। अली शिगरी को यह संदेह था कि उसके पिता कर्नल कुली शिगरी की तथाकथित आत्महत्या के पीछे जनरल जिया की नीतियों का हाथ था। यही नहीं जब उसका मित्र, प्रेमी और सहकर्मी ओबैद अचानक गायब हो जाता है तो उसे सेनाधिकारियों द्वारा तरह-तरह से यातनाएँ दी जाती हैं। वह जहर बुझी तलवार की नोक से छूकर जनरल जिया की हत्या की योजना तैयार करता है। लेकिन ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज की कथा में वह अकेला साजिशकर्ता नहीं है।

उपन्यास की कथा के अनुसार हो सकता है कि जहाज के एयरडकंडीशनर में जहरीली गैस भर दी गई हो जो ए.सी. के चलते ही सारे विमान में फैल गई और चालक समेत जहाज के सभी यात्री उस गैस के प्रभाव में

आकर मौत की आगोश में सो गए। उपन्यास में एक कथा विधवा जैनब की आती है, जिसका सामूहिक बलात्कार किया गया था और इस्लामी कानून के मुताबिक उसे पत्थरों से मारे जाने की सजा मिली थी। उसने शाप दिया था कि जिसने उसे दरबदर किया उसे कीड़े खाएँ और उसके मरने के बाद उसके घरवाले उसका चेहरा भी न देख पाएँ। क्या उस विधवा के कारण विमान की दुर्घटना हुई? पाकिस्तान में प्रचलित एक कहावत के अनुसार कोई अभिशाप तभी फलित होता है जब शाप देने वाला किसी कौवे को भरपेट खाना खिलाकर शाप सुनाए और कौवा शापग्रस्त व्यक्ति तक उस शाप को लेकर पहुँच जाए। कहते हैं कौवे की स्मृति नब्बे साल तक रहती है। क्या सचमुच कोई कौवा जहाज के सामने आ गया था? जिससे टकराकर विमान के परखच्चे उड़ गए।

विमान के उड़ने से कुछ देर पहले एक फौजी जनरल के कहने पर वामपंथी रुझानों वाले संगठन आम-उत्पादक सहकारी संघ द्वारा दी गई आम की पेटियाँ जहाज में लादी गई थीं। क्या उन पेटियों में विस्फोटक भरा था? साजिशकर्ताओं में सेना के अनेक बड़े अफसर भी शामिल थे। उपन्यास की कथा आरम्भ होती है जनरल जिया की दुर्घटना में मृत्यु के कुछ महीने पहले के घटनाक्रमों के साथ। जनरल को ऐसा महसूस होता है कि अल्लाह ने कुरान के माध्यम से उसके पास संदेश भेजा है कि उसकी जान खतरे में है और वह अपनी सुरक्षा को सर्वोच्च श्रेणी कोड रेड तक बढ़ाने का आदेश देता है। रोज सुबह उठकर वह कुरान ऐसे देखता है जैसे अपनी जन्मकुंडली बाँच रहा हो। उपन्यास की कथा के दो सूत्र हैं-अली शिगरी द्वारा सुनाई जा रही साजिश-कथा और अन्य पुरुष में कही गई जनरल के मरने से कुछ महीने पहले से लेकर उसके मरने के कुछ दिनों बाद तक की कथा।

अपराध-कथा की शैली में लिखे गए इस उपन्यास को केवल इस कारण महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि इसमें किसी तानाशाह राष्ट्राध्यक्ष की मौत से जुड़ी पहेली को सुलझाने का प्रयास किया गया है। यह इस उपन्यास का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। उपन्यास में लेखक ने बहुत बारीकी से यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह जनरल जिया के शासन-काल में पाकिस्तानी शासन धर्म-आधारित होता चला गया, किस तरह सेना की राजनीतिक पिपासा बढ़ी। लेखक ने यह भी दिखाया है कि किस तरह अफगान युद्ध के दौरान अमेरिका ने रूस के खिलाफ अफगान मुजाहिदीन तैयार करने के लिए जिया की हरसम्भव सहायता की और उसका भरपूर इस्तेमाल भी किया।

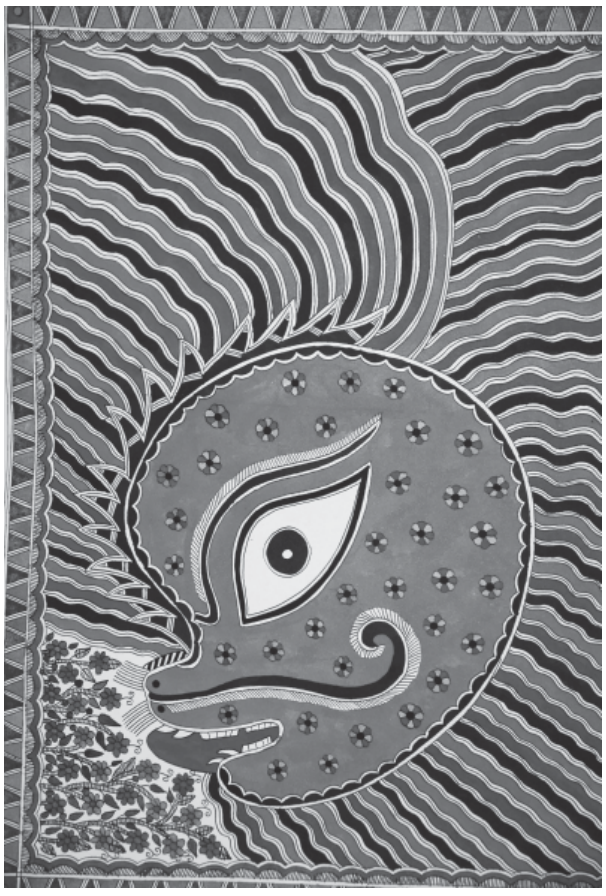

उपन्यास में एक दृश्य अमेरिकी राजदूत आर्नोल्ड राफेल के घर पर अमेरिकी स्वतंत्रता दिवस 4 जुलाई 1988 को आयोजित भोज का है। आमंत्रित अतिथियों में एक दाढ़ीवाला अरब युवक भी होता है। जिसका नाम उपन्यास में ओबीएल (ओसामा बिन लादेन का संक्षिप्त रूप) बताया गया है, जो लादेन एंड कम्पनी के लिए काम करता है। पार्टी में उपस्थित सभी लोग उससे बड़ी गर्मजोशी से मिलते हैं। सी.आई.ए. का स्थानीय प्रमुख उसकी पीठ थपथपाते हुए कहता है- बहुत अच्छे। इसी तरह काम करते रहो। लेखक मानो यह संकेत देना चाहता है कि वास्तव में मुस्लिम आतंकवाद का जनक अमेरिका रहा है। उपन्यास में इस तरह के अनेक संदर्भ आते हैं जो इसकी कथा को समकालीन वैश्विक सन्दर्भों में महत्वपूर्ण बनाते हैं।

उपन्यास की भाषा व्यंग्यपूर्ण है और लेखक के चुटीले व्यंग्य-बाण उपन्यास की कथा को अर्थगर्भित बनाते हैं। पाकिस्तानी सेना के कार्यकलापों पर भी लेखक ने पर्याप्त व्यंग्य किए हैं। उपन्यास में एक स्थान पर कथावाचक शिगरी कहता है कि पाकिस्तान की सेना ने केवल एक मामले में प्रगति की है-जनरल मोटे होते गए हैं और उन्होंने अधिक से अधिक मेडल इकट्ठा करने का काम किया है। स्वतंत्रता की 40वीं वर्षगांठ का मेडल, स्क्वैश टूर्नामेंट आयोजित करने का मेडल, वृक्षारोपण सप्ताह आयोजित करने का मेडल, एक अफसर जब मक्का की यात्रा पर गया तो लौटने पर उसे हाजी मेडल दिया गया। उपन्यास में इस तरह के चुटीले प्रसंगों की कमी नहीं है। यह कोई महान उपन्यास नहीं है। लेकिन पाकिस्तानी समाज और राजनीति की जटिलताओं को समझने में इसकी कथा मदद करती है। एक प्रसंग में लेखक ने लिखा है कि अपराधी अपराध को अंजाम देते हैं और निर्दोष सजा के भागी बनते हैं। हम ऐसे देश में रहते हैं। उपन्यास की कथा यह संकेतित करती है कि कथा का सन्दर्भ भले बीस साल पुराना हो, मगर पाकिस्तान के हालात बदले नहीं हैं। अकारण नहीं है कि मो. हनीफ के इस पहले उपन्यास को पाठकों ने हाथों हाथ लिया।

ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज/ मो. हनीफ/ रैंडम हाउस इंडिया/ 395 रुपए

93, एम्स अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-96

जिए तो मसीहा : मरे तो मसीहा

कुबेर दत्त

हिंदी के कुनबे के 97 वर्षीय मुखिया कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार, यायावर, साहित्य के सच्चे साधक, तेजस्वी और सरल-मना, सबके अपने विष्णु प्रभाकर नहीं रहे। 11 अप्रैल 2009 की सुबह क़रीब पौने एक बजे उन्होंने अंतिम सांस ली। वे प्रोस्टेंट कैंसर से पीड़ित थे। अन्य भी कई कष्ट थे। 23 मार्च से एक निजी अस्पताल में भर्ती थे। 11 अप्रैल को विभिन्न टीवी चैनलों ने दिनभर उनके निधन की ख़बर दिखाई और उन तमाम साहित्यकारों के बयान भी जिनमें से कई नामधारियों ने उनके जीते जी कभी भी उनके लेखन-जीवन पर कलम नहीं चलाई थी। वाद और विचारधारा की आंधी ने विष्णु जी को एक सिरे पर फेंक दिया था। मगर इससे उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर धूल-मिट्टी नहीं पड़ी। जानने वाले जानते हैं कि विष्णु जी ने सौ से ज़्यादा क़िताबें लिखी थीं और जीवन भर वे साहित्य-लेखन के बल पर मसिजीवी ही बने रहे। जीवन के प्रारंभ में (1944) उन्होंने नौकरी ज़रूर की, मगर कम समय के लिए। वे पहले अखिल भारतीय आयुर्वेद महामंडल में नौकरी करने लगे फिर आकाशवाणी में कुछ समय रहे। नौकरी उन्हें रास न आई इसलिये एक दफ़ा छोड़ दी तो छोड़ दी। सरकारी नौकरी के दौरान उन्होंने 'प्रेमबंधु', और 'विष्णु' नाम से लेखन किया। बाद में 'विष्णु दयाल', 'विष्णु गुप्त' और 'विष्णु दत्त' नाम से भी लिखा। 'सुशील' नाम से समीक्षाए भी लिखीं। कम लोग जानते होंगे कि विष्णु जी ने पारसी थियेटर में भी काम किया था।

विष्णु प्रभाकर

उनकी पहली कहानी 'दिवाली के दिन' 1931 में 'हिन्दी मिलाप' (लाहौर) में छपी थी। उन्होंने लेखन की प्राय: हर विधा में लिखा-नाटक, समालोचना, संस्मरण, यात्रावृत्तांत, बालसाहित्य, कहानी, उपन्यास, जीवनी...।

उनके उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर' पर 1993 में उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। 2006 में 16 मई को वे साहित्य अकादेमी के महत्तर सदस्य बने। उनका साहित्य संसार बहुत बड़ा है, कृति-परिसर भी। फिर भी उनकी कृति 'आवारा मसीहा'

को जैसी ख्याति मिली, उल्लेखनीय और प्रशंसनीय है। बांग्ला लेखक शरत चंद्र चटर्जी के यायावर-जीवन पर आधारित यह औपन्यासिक जीवनी आज भारत की तमाम प्रमुख भाषाओं में अनूदित है। शरत के जीवन के अध्ययन में उन्होंने चौदह वर्ष लगाए। उन्होंने इसी उद्देश्य से बांग्ला भाषा सीखी। उन्होंने इस सिलसिले में बिहार, बंगाल और बर्मा की यात्राएँ कीं। शरत के जीवन, दर्शन, और रहन-सहन, उनके अनुभवों और आचार-विस्तार की बहुत ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति 'आवारा मसीहा' में है। इसे युगान्तरकारी रचना माना गया। इसका प्रकाशन 1974 में हुआ।

जानकार लोग संभवत: जानते हो, विष्णु जी ने प्रेमचंद के 'गबन' और 'गोदान' का 'चंद्रहार' और 'होरी' नाम से नाट्य रूपान्तर भी किया था।

विष्णु जी ने कथा साहित्य के साथ-साथ नाट्य-लेखन के क्षेत्र में अद्वितीय काम किया। मौलिक, रूपांतर, अनुवाद और एकांकी की उनकी तीन दर्जन से भी ज़्यादा कृतियां प्रकाशित हैं। उनका नाटक 'डॉक्टर' प्रयोगात्मक रंगमंच को नयी दिशाएं देता है। अनेक बार उसका मंचन हुआ है। एकांकी और रेडियो रूपक व नाटक लिखने में तो वे अग्रणी थे। इस क्षेत्र में उन्होंने अनेक सफल प्रयोग किए जो नये प्रसारकों और रेडियो-लेखकों के लिये 'सबक' हो सकते हैं। ऐतिहासिक शख़्सियतों और घटनाक्रमों पर केन्द्रित उनके नाटक 'झांसी की रानी', 'अशोक' और 'परिवेदन' खूब प्रसिद्ध हुए। उनके नाटक 'सत्ता के आरपार' के लिये उन्हें मूर्तिदेवी पुरस्कार और शलाका सम्मान से नवाज़ा गया।

बच्चों के लिये भी उन्होंने खूब लिखा। सबसे अधिक। कविताएं छोड़कर शेष सभी विधाओं में उन्होंने दो दर्जन से भी अधिक पुस्तकें बच्चों के लिये लिखीं। वे बाल मनोविज्ञान को बहुत गहराई तक समझते थे।

उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर' स्त्री की दशा-दुर्दशा की कथा कहता है। आज़ाद भारत में नारी के शोषण और पीड़ाओं का मार्मिक वर्णन इस उपन्यास में है। व्यक्ति और समाज के द्वन्दों को उन्होंने अपने कथा लेखन के केन्द्र में रखा। एक दर्जन से भी अधिक कथा संकलनों की 200 से अधिक कहानियों में सामंती समाज में जीते, कष्ट झेलते और भिड़ते भारतीय मनुष्य की गाथाएँ हैं।

'मुरब्बी', 'आश्रिता', 'अभाव', 'मेरा वतन', 'एक और कुंती', 'धरती अब भी घूम रही है', 'पुल टूटने से पहले', 'ज़िन्दगी एक रिहर्सल' और 'शरीर से परे' उनकी कुछ उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। 'धरती अब भी घूम रही है' कहानी पर दिल्ली दूरदर्शन ने एक टेलीफ़िल्म बनाई थी। उसके प्रदर्शन समारोह में विष्णु जी आए थे। यह 2006 की बात है। अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए विष्णु प्रभाकर जी ने कहा था–इस एक कहानी से मुझे जैसी प्रसिद्धि और लोकप्रियता मिली उतनी 'आवारा मसीहा' से भी नहीं मिली होगी।

उनका लेखन भारतीय मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय समाज की पीड़ाओं का चित्रण है। तमाम प्रतिशील अभियानों के बावजूद आज भी भारतीय समाज सामंती मार झेल रहा है। जात-पात, रूढ़िवाद, साम्प्रदायिकता, ऊंच-नीच, आर्थिक शोषण, दलित समस्यायें, विधवाओं की दुर्गति और ओछी राजनीति ने आम भारतीय के जीवन को नेस्तनाबूद कर दिया है। यही सब विषय उनकी कहानियों में मौजूद हैं। उन्हें 'गांधीवादी' कहकर सीमित कर दिया जाता है जबकि वे एकदम खुले विचारों के व्यक्ति और लेखक थे। हर तरह की विचारधारा रखने वाला व्यक्ति और रचनाकार उनसे बेलाग मिल सकता था, वार्ता कर सकता था। कई घोर मार्क्सवादी लेखक भी उनके स्वाभाव के कायल थे और उनके मित्र थे।

उनके उपन्यासों और कहानी संग्रहों की सूची यहां देना केवल स्थान घेरना है। हिन्दी समाज उनके साहित्य से सुपरिचित है। हिन्दी साहित्य जगत में विष्णु प्रभाकर का कृतित्व और व्यक्तित्व अनन्य है। वे आज़ादी से पहले भी संघर्ष करते रहे, आज़ादी के बाद भी। वे सतत आन्दोलनरत रहे और मनुष्य के पक्ष में सोचते, जीते और लिखते रहे।

उनका समूचा साहित्य 23 जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने 60 से भी

अधिक पुस्तकों का सम्पादन किया और अनेक पत्र पत्रिकाओं के सम्पादन से भी जुड़े रहे।

वे मेरे ही ज़िले (मुज़फ़्फ़रनगर, उ.प्र.) के थे। 21 जून, 1912 को मीरापुर क़स्बे में पैदा हुए थे। मेरे पिता उनके मित्र थे। पहली बार मैंने उन्हें बाल्यकाल में तब देखा था जब हमारे घर आए थे। मेरे पिता तब मुज़फ़्फ़रनगर के माध्यामिक स्कूल में अध्यापक थे। मैं 5वीं कक्षा में पढ़ता था। हमारे स्कूल का सालाना जलसा था। गीत-संगीत नाटक, अंताक्षरी, भाषण प्रतियोगिताएँ हुई थीं। मैंने एकल गीत गाया था। वे मुख्य अतिथि थे। उन्होंने मुझे सुना और सराहा था। मैंने उनकी कहानियाँ पढ़ रखी थीं। वे आसान थीं और समझ में आती थीं।

फिर जब हम शाहदरा में रहते थे और मैं लाजपत राय कॉलिज से बी.ए. कर रहा था तो वे हमारी हिन्दी परिषद के निमंत्रण पर कॉलिज में आए थे। उन्होंने सरल शब्दों में साहित्य के उद्देश्य पर एक भाषण भी दिया था। मैंने अपनी कविताएँ पढ़ी थीं। उन्होंने शाबाशी दी थी और चलते-चलते मुझे अपने पास बुलाकर कहा था–'अपने पिता की काव्य-रचनाएँ अधिक से अधिक पढ़ो। वे सरल हैं पर उनमें समाज की धड़कनें हैं।' उन्होंने कहा था कि सरस जी का 'कुणाल' खंडकाव्य और उनकी 'पीसनहारी' कविता ज़रूर पढ़ना। अजीब संयोग था कि मेरे पिता की शक्ल विष्णु प्रभाकर से मिलती थी।

1972 के दौरान जब मैं एम.ए. करने के बाद भारतीय विद्या भवन, दिल्ली से

पत्रकारिता में डिप्लोमा कर रहा था उनसे अनेक मुलाक़ातें टी हाउस और बाद में मोहन सिंह प्लेस के कॉफी हाउस में होती थीं। युवा पीढ़ी के अनेक रचनाकार जिनमें नवोदित रचनाकार भी थे, उनसे लपक कर मिलते थे। उनका ऐसा कोई प्रभामंडल नहीं था कि जिसके तेज से युवा रचनाकार झुलस जाएँ।

जब वे साठ के हुए (1972) तो दिल्ली के सभी विचारधाराओं के लेखकों ने उनके सम्मान में एक समारोह किया। यह आयोजन नयी दिल्ली नगर पालिका के सभागार में हुआ था। मैं उसमें था। साहित्यकारों ने एक स्वर में माँग की थी कि उन्हें 'साहित्य अकादेमी' पुरस्कार दिया जाए। बाद में सभी साहित्यकारों ने मिलकर उन्हें 'पाब्लो नेरूदा सम्मान' देकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी।

1973 में मैं दूरदर्शन में प्रोड्यूसर हुआ और मेरी प्रारंभिक कृतियों में एक फ़ीचर विष्णु जी पर भी था। शूटिंग करने हम उनके कुंडेवालान वाले घर भी गए थे। तब उनकी पत्नी जीवित थीं। उनकी पत्नी ने सबको हलवा खिलाया था और चाय पिलाई थी।

उनके घर जाने का यह दूसरा मौक़ा था। बरसों पहले उनके घर तब जाना हुआ था जब मैंने गाँव के कॉलिज से इंटरमीडिएट की परीक्षा दी थी। छुट्टियों के दिन थे। पिता पूना में सर्विस कर रहे थे। उनसे मैंने विष्णु जी का, दिल्ली का पता डाक से मँगाया था क्योंकि हम तीन दोस्तों को छुट्ठियों के दौरान दिल्ली घूमने जाना था। हम गए और ठहरे पुरानी दिल्ली के कूचा नरवा में। वहाँ कपड़े के आढत की एक कई मंज़िला बिल्डिंग थी। उस आढत पर मेरे बड़े भाई के ससुर प्रधान मुनीम थे। वे रहते भी उसी बिल्डिंग के प्रथम तल पर। बाक़ी कर्मचारी भी वहाँ रहते थे। रसोई शामिलात थी। एक महाराज शंकर लाल खाना बनाता था। कमरे अनेक थे जिनमें चारपाइयाँ बिछी थीं। अतिथियों के लिये भी ठहरने-खाने का प्रबन्ध था। ...तो हम दोस्तों को वहीं ठहरना था। हम सुबह सवेरे गाँव से चले और दोपहर तक दिल्ली पहुँचकर व्यवस्थित हो गए। उस दिन हमें चांदनी चौक और लाल क़िला घुमाया गया। अगला दिन हमारी योजना के मुताबिक था।

पहले हमने नावेल्टी सिनेमा पर एक पुरानी फ़िल्म 'नया दौर' देखी, फिर हम पैदल ही कुंडेवालान स्थित विष्णु प्रभाकर जी के घर गए। मैंने उन्हें अपने पिता और अपना परिचय दिया। वे पहचान गए। बड़े प्रेम से उन्होंने और अम्मा जी ने हमें जलेबी खिलाई।

बी.ए. करते हुए एक बार युववाणी पर हमने जिन कुछ महारथियों के इंटरव्यू किए थे, उनमें विष्णु प्रभाकर भी थे। उनका अंतिम इंटरव्यू दूरदर्शन ने रिकॉर्ड किया था। 2008 में दूरदर्शन प्रोफेशनल फोरम ने अपना पहला सम्मान विष्णु प्रभाकर को ही दिया। अस्वस्थ होने के कारण वे तो नहीं आ पाए थे पर उनका एक प्रेरक संदेश ज़रूर मिला था जिसमें उन्होंने हमारे संगठन की सफलता की कामना की थी और रेडियो के अपने दिनों को भी याद किया था। सम्मान का प्रतीक वह श्रीफल, शॉल और प्रशस्तिपत्र संगठन के पदाधिकारी उनके घर पर जाकर उन्हें ससम्मान दे आए थे और एक निवेदन भी उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। तदनुसार अगले दिनों में ही उनके घर पर दूरदर्शन-आर्काइव की टीम ने उनका एक लम्बा इंटरव्यू रिकॉर्ड किया। यह इंटरव्यू आज दूरदर्शन आर्काइव की अमूल्य निधि है।

बच्चन, किशोरीदास वाजपेयी, केदारनाथ अग्रवाल की तरह विष्णु प्रभाकर भी हर पत्र का उत्तर देते थे। अस्वस्थ रहने लगे तो बोलकर लिखने लगे थे। इसी के साथ वे पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ पढ़ने के बाद उनके सम्पादकों को पत्र भी लिखने लगे थे। महाराजा अग्रसेन अस्पताल में इलाज के लिये जाने के समय तक भी विष्णु जी कुछ न कुछ हर रोज़ बोल कर लिखाते थे। लिखने वाला यदि छुट्टी कर जाए तो उन्हें बहुत बेचैनी होती थी।

वे बहुत खिलंदड़े स्वभाव के थे। निर्मल, निश्छल। एक बार, लगभग दस-बारह साल पहले उनका जन्मदिन रामकिशोर के घर पर दरियागंज में मनाया गया। वहाँ विष्णुचंद शर्मा थे, बलदेव वंशी थे, डॉ. हरदयाल थे, कुछ युवा साहित्यकार थे, मैं था और मेरे साथ मेरा एक मित्र। सबने न जाने क्या ठानकर उनसे ज़ोरदार आग्रह किया कि वे शराब का एक घूंट ले लें। वे हँसे बोले- 'एक घूंट क्यों, पूरा पैग पियूँगा।' सब चकित। पैग बना। धीरे-धीरे उन्होंने पूरा पिया। यही नहीं आग्रह करके सिगरेट के कुछ कश भी ख़ींचे। फिर उन्होंने अपनी रेलयात्राओं के रोचक और ज्ञानवर्धक संस्मरण सुनाए। उनके पास इतने संस्मरण थे कि सबके सब लिख लिए गये होते तो कई बृहद ग्रंथ बनते।

विष्णु जी पूरे जीवन सचमुच एक मसीहा की तरह जिए जो सबका था, सबके बीच था और मरे तो भी मसीहा की तरह। 1994 में एम्स में चिकित्सा के दौरान ही उन्होंने एक निर्णय लिया था और जिसे वसीयत में शामिल किया गया कि मरने के बाद उनके शव का कोई क्रियाकर्म नहीं होगा, जो नहीं हुआ। इसी कारण अनेक व्यस्त 'लेखक' बेमन से श्मशान घाट न जाने से परम सुखी हुए। हुआ यह कि उनके शव को अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के ऍनाटॉमी विभाग को सौंप दिया गया जहाँ वह संस्थान के विद्यार्थियों के काम आयेगा। ऑर्गन रिट्रीवल बैंकिंग आर्गेनाइज़ेशन की प्रमुख डॉ. आरती विग ने नम आँखों से कहा-'शव मिलने में बहुत दिक़्क़त होती है, मगर यह शव हमारे लिये किसी पुण्य से कम नहीं। वे मरकर भी विद्यार्थियों का भला कर गए।'

उस दिन डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा था-'लोग परलोक-चिंता में घुलते रहते हैं, देखो इस आवारा मसीहा को जिसने अपने शव की अंत्येष्टि भी नहीं होने दी। जो मरकर भी काम आया।'

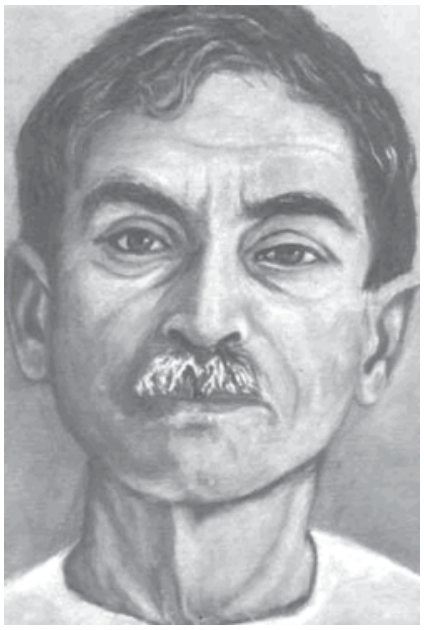

यक़ीनन विष्णु प्रभाकर जिए भी मसीहा की तरह मरे भी मसीहा की तरह। वरिष्ठ आलोचक नवल किशोर ने उन्हें ऋषि कहा।

प्रेमचंद बनाम हेमचंद

जून 1980 की बात है। यह प्रेमचंद जन्मशताब्दी वर्ष था। मैं प्रेमचन्द पर एक वृत्तचित्र कर रहा था। लमही और बनारस में दिन की शूटिंग करने के बाद केवल रात का एक घंटा शूट करना बचा था। बनारस स्टेशन पर ट्रेन पकड़ने के पहले गाड़ियों में सामान लदवा कर हम चल पड़े बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय के परिसर की ओर। समय तय था। प्रख्यात कला समालोचक-लेखक रायकृष्ण दास का एक वक्तव्य रिकॉर्ड होना था। जो इस प्रकार हुआ–'...प्रेमचन्द के अलावा दूसरे सबसे बड़े जो साहित्यिक यहां थे तो वे प्रसाद जी थे। उन लोगों की विचारधारा बिल्कुल अलग-अलग थी। दोनों में अक्सर नोंकझोंक होती रहती थी। प्रेमचन्द जी अक्सर कहते थे कि तुम गड़े मुरदों को निकालते रहते हो। उनका इशारा प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों–'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि.... की तरफ़ था।... उन लोगों की विचारधारा शास्त्रीय भावनाओं में तो एक थी, लेकिन लेखन में अलग-अलग थी। ...तो वो लोग अक़्सर बेनिया पार्क में, सवेरे, टहलने जाते थे। कला भवन में उनका एक फोटोग्राफ़ भी है। ...तो प्रेमचन्द जी उनको यही बार-बार उलाहना देते थे कि प्रसाद जी भी बहुत गड़े मुरदों की हड्डी निकालते हैं। इससे क्या होगा? ....बात ये थी कि प्रसाद जी भी बहुत राष्ट्रीय विचारधारा के थे और वो पुरानी कथाओं को लेकर लिखते थे कि किस तरह भारतीयों ने विदेशियों को दूर किया, हराया, उनके आक्रमणों से बचाया। तो उस तरह के लेखन से वे अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रकट करते थे। प्रेमचन्द जी बिल्कुल मैटर ऑफ फेक्ट लिखने वाले थे... तो प्रेमचन्द जी ने एक दिन फिर प्रसाद जी से कहा–'आप पुरानी हड्डियों को निकालते रहते हैं, कुछ नया लिखिए।' प्रसाद जी को बात लग गयी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने 'कंकाल' और 'तितली' लिखे। इस पर प्रेमचन्द जी बहुत ख़ुश हुए। खूब प्रशंसा की।

प्रेमचन्द 'हंस' निकालते थे। उसके सम्पादक थे। हंस में बहुत अच्छे लेख तो निकलते ही थे, साथ ही प्रेमचन्द जी पुस्तकों की बहुत गंभीर समालोचना भी करते थे। बड़े मार्के की समालोचनाएँ होती थीं। ऐसी पकड़ते थे कोई भूल या उसके सौन्दर्य का रूप कि पढ़कर तबीयत ख़ुश हो जाती थी। प्रसाद जी ने प्रेमचंद द्वारा सम्पादित पत्रिका का नाम 'हंस' दिया था।

...इस बीच रायकृष्ण दास के सुपुत्र ने एक प्रश्न पूछ लिया। 'क्या प्रेमचंद अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित थे?' उनका उत्तर था– 'झूठ बात है'। हमने भी प्रेमचन्द जी से पूछा था।

उन्होंने कहा था–'हम अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ते हैं, इससे हमारे मन में नयी-नयी कल्पनाएँ उठती हैं।'

एक दफ़ा हेमचन्द (इलांचद्र जोशी के छोटे भाई) और प्रेमचन्द जी का बहुत विवाद चला। उसका नाम हम लोगों ने रखा था– 'प्रेमचन्द बनाम हेमचंद' और ... उसमें हेमचंद ने यह साबित करने की (असफल) कोशिश की थी कि प्रेमचंद का फलां उपन्यास 'वेनिटी फेयर' से लिया गया है। प्रेमचन्द जी ने उसका ऐसा प्रबल खंडन किया कि उनका मुंह बंद हो गया।

वुदरिंग हाइट्स

अंग्रेज़ी लेखिका एमिली ब्रांट का एकमात्र उपन्यास 'वुदरिंग हाइट्स' 1847 में प्रकाशित हुआ। अल्पायु में ही दुनिया से विदा लेने वाली एमिली की इस कृति ने विश्व साहित्य में अमरता प्राप्त कर ली है। अंग्रेज़ी साहित्य में बार-बार तहलका मचाने वाली इस कृति ने दुनिया के बेस्ट सेलर बुक की सूची में अग्रणी स्थान प्राप्त किया। आलोचक आज भी यह मानते हैं कि इस कृति के सामने अंग्रेज़ी की कोई दूसरी कृति खड़ी ही नहीं होती।

इस कालजयी कृति का प्रारंभिक काल

चित्र : क्रानवेल ब्रांट

एमिली ब्रांट

1801 है। यह वह वक़्त था जब ब्रिटेन में पितृसत्तात्मक पारिवारिक जीवन को सामाजिक और सांस्कृतिक बदलावों से चुनौती मिलने लगी थी। यह औद्योगिक क्रांति का दौर था। 'भद्र लोक' और मध्यवर्ग में आपसी टकराव शुरु हो चुका था। चरित्र, वंश, परंपरा, आचार, परिवार–इनका स्थान धन की महत्ता ने झपट लिया था। मनुष्य द्वारा मनुष्य का दोहन हो रहा था। इसी संक्रमण के मध्य में एमिली ब्रांट ने इस उपन्यास की रचना की जिसके केन्द्र में है–प्रेम। सशक्त विचारपक्ष और बारीक़ मनोविश्लेषण ने इस उपन्यास को अनूठा बना दिया। उपन्यास में अनेक पात्र हैं और वे जीवन की कठोर ज़मीन पर खड़े हैं।

अगर हम आज के भारतीय समाज की ओर देखें तो हमें लगेगा कि उसके संक्रमण के गर्भ से कई 'वुदरिंग हाइट्स' पैदा हो सकते हैं या हो रहे हैं। यह कृति हिन्दी में अनूदित होकर पाठकों तक पहुँच चुकी है। अनुवाद इंद्रमणि उपाध्याय ने किया है और इसे आलेख प्रकाशन ने प्रकाशित किया है।

स्मरणीय है कि दिलीप कुमार अभिनीत फ़िल्म (जिसमें वहीदा रहमान नायिका थी) 'दिल दिया दर्द लिया' इसी उपन्यास पर आधारित थी।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज़-1 दिल्ली-110091

धीरे-धीरे चेखव

गोपाल प्रधान

गाजीपुर जिले के सुल्तानपुर गाँव की मेरी दुनिया में दो लोग रोशनी लेकर आते थे–मेरे बड़े भाई अवधेश प्रधान तब बी.एच.यू. में पढ़ रहे थे और उनकी गाँव पर रखी पत्रिकाओं का ढेर पढ़ाई की मेरी भूख मिटाता था तथा चचेरे भाई आनन्द प्रधान अपने पिता के साथ पतरातू में रहते, हजारीबाग में पढ़ते थे और जब भी गाँव आते अपने साथ हिन्दी की ढेर सारी नई पत्रिकाएँ लेकर आते। इन्हीं लोगों के जरिए चेखव का मेरे जीवन में प्रवेश हुआ। 'एक क्लर्क की मौत' की आखिरी पंक्तियों की खूबसूरती और ताँगेवाले का अपने घोड़े के गले लिपटकर अपना दु:ख बताने की मजबूरी मेरे बालमन को भिगो देती। दसवीं कक्षा उत्तीर्ण होकर बनारस पढ़ने आया।

बीसवीं सदी का अस्सी का वह दशक हिन्दी क्षेत्र के सांस्कृतिक आन्दोलन में वामपंथ की गैर संसदीय जुझारू धारा के उत्थान का समय था। बिहार के किसानों की सभाओं में गोरख पांडे के साथ लाखों लोग 'हिलेले झकझोर दुनिया' गाते। बनारस में 'अभियान' नामक नुक्कड़ नाटक की टीम बनी। नाटक सिखाने के लिए शम्सुल इस्लाम दिल्ली से आए। हमारी नाटक टीम में बी.एच.यू. के हिन्दी विभाग के अध्यापक रामनारायण शुक्ल और अनेक छात्र थे। तब की कुछ मित्रताएँ अब तक कायम हैं। टीम का एक पसंदीदा नाटक चेखव की कहानी 'गिरगिट' के आधार पर तैयार किया गया था। कमसिन होने के कारण मैं इसमें कुत्ते की भूमिका निभाता। पुलिसिया नौकरशाही के आतंक को मारक व्यंग्य के जरिए खास चेखोवियन हास्य के साथ इसमें जिस तरह तहस-नहस किया गया है, वह अपने आप में मिसाल है।

कुलवक्ती क्रांतिकारी राजनीति का फैसला किया तो इसके पूर्वाभ्यास के बतौर गाँव लम्बे अरसे के लिए आया। गाँव में माले के कार्यकर्ताओं का आना-जाना शुरू हो चुका था। पिछली जातियों और ब्राह्मण परिवारों के कई नौजवान उनके साथ थे। इन्हीं नौजवानों को लेकर नाटक टीम बनाई गई। क्रांतिकारी गीत थे और 'गिरगिट' नाटक। गाँव के पारम्परिक शक्ति केन्द्रों को यह पहल नागवार गुजरी। उन्होंने हमारे दल का उपहास करते हुए इसे 'गिरगिट पार्टी' कहना शुरू किया। क्या दिन थे वे। कोटवा-नरायनपुर में सामंतों और पुलिस के भय से एक भी आदमी नाटक देखने नहीं आया लेकिन नाटक खत्म हो जाने के बाद दलितों की बस्ती में शानदार दावत हुई। बरेसर में नाटक के व्यंग्य से चिढ़कर एक सिपाही ने मुझ पर थप्पड़ चलाया। बाराचवर में अम्बेडकर जयंती पर कार्यक्रम के बाद रात के अंधेरे में छिपकर दलित जाति का एक इंस्पेक्टर हमसे मिलने आया। मुहम्मदाबाद में बस से उतरते हुए एक दलित नचनिये ने मुझसे हाथ मिलाते हुए दो रुपए का सिक्का मुट्ठी में छोड़ दिया। राजनीति और सांस्कृतिक सक्रियता का मेल कराने में चेखव माध्यम बने।

गाँव में भूमिहार जाति के सामंतों का दबदबा था। उन्होंने रामलीला में अभिनय करने के लिए टीम के साथियों पर दबाव बनाना शुरू किया। रामलीला में जो नाटक होते उनमें निचली जाति के लड़कों को महिलाओं की या गौण पात्रों की भूमिकाएँ दी जातीं। फिर यह मूल्यों की लड़ाई बन गई। बड़ी तनातनी हुई। बहरहाल, वह दौर उत्तर प्रदेश में पुलिस बल को अबाध शक्ति देकर समाज को 'अपराधमुक्त' कराने की दीर्घकालीन राजनीति की शुरुआत का दौर था। रेकार्ड

पैमाने पर फर्जी मुठभेड़ें हो रही थीं। लिहाजा हमारा नाटक और ऐसी ही कुछ गतिविधियाँ सिरदर्द बनने लगीं। तीन थानों की पुलिस ने मिलकर औपन्यासिक कल्पनाशीलता का परिचय देते हुए हम सात लोगों के साथ ऐसी मुठभेड़ की कथा लिखी जिसमें केवल एक व्यक्ति पकड़ा गया था, शेष छह भाग गए थे। धर-पकड़ और चार वर्षों की मुकदमेबाजी के बाद सभी निर्दोष छूटे लेकिन टीम बिखर गई। जिन्दगी की भागमभाग में चेखव का साथ लम्बे दिनों के लिए छूट गया। कभी कहीं मौका लगा तो कुछ हो गया। लेकिन चेखव की दुनिया मेरी जिन्दगी में दो मुँहे बौद्धिकों और बेलगाम तथा हास्यास्पद नौकरशाही की मार्फत बारम्बार उपस्थित होती रही।

मेरे अध्यापकीय जीवन की शुरुआत काफ्काई तरीके से हुई। जिस कॉलेज में मेरी नियुक्ति का आदेश उ.प्र. उच्चतर शिक्षा सेवा आयोग ने थमाया वहाँ पहुँचने के लिए कस्बे में उतरा तो किसी को पता नहीं था कि वह है कहाँ। किसी तरह एक ने बताया कि मंडी समिति जाइए। वहाँ गए तो पता चला कि इंटर कॉलेज के बगल में कल ही चला गया है। पहुँचे तो ताला लगा। प्रिंसिपल और क्लर्क का इन्तजार सामने की चाय दुकान में बैठकर किया। प्रिंसिपल किसी और कॉलेज से सेवानिवृत्त होकर यहाँ जनसेवा करने आए थे। क्लर्क स्थानीय चीनी मिल में कर्मचारी थे। नियुक्ति जिलाधिकारी के कार्यालय में होनी थी। पता चला कॉलेज को सरकारी सहायता नहीं मिली है इसलिए वेतन का भुगतान चीनी मिल से होगा। इस तरह कॉलेज था भी और नहीं भी था। हम अध्यापक थे भी और नहीं भी थे। हमें वेतन मिलता भी था और नहीं भी मिलता था। ऐसी अजीब दुनिया में पुराने मित्र आलोक श्रीवास्तव एक बार आए और वर्जीनिया वुल्फ की किताब 'ए रूम आफ वन्स ओन' अनुवाद के लिए दे गए। उसके प्रकाशन के बाद चेखव की जीवनी लिखने का प्रस्ताव रखा तो पुरानी मोहब्बत याद आ गई और उत्साहपूर्वक मैं राजी हो गया। उनमें व्यावसायिक चतुराई कम थी।

इस बात का जिक्र मैं जानबूझकर कर रहा हूँ। हिन्दी के अधिकांश प्रकाशक कोशिश करते हैं कि किताबों के सर्वाधिकार उनके पास सुरक्षित रहें ताकि लेखक कहीं और से दुबारा छपा न सके। इसके सहारे वे पाठकों से मूल्य तो अधिक वसूलते हैं लेकिन अपने मुनाफे से लेखक अथवा अनुवादक को बढ़ा हुआ मेहनताना नहीं देते। आलोक ने बिस्सोवा शिम्बोर्स्का की कविताओं के अनुवाद का सर्वाधिकार अनुवादक को दिया था। यही नहीं बल्कि तकरीबन अंग्रेजी स्रोतों का सहारा लेकर लिखी जीवनियों का भी सर्वाधिकार लेखकों को दिया था। इन्हीं कारणों से मैं राजी हुआ तो उन्होंने एक आठ सौ पृष्ठों की चेखव की अंग्रेजी में लिखी जीवनी की फोटोप्रति मुझे सौंपी। पुस्तक का नाम तो याद नहीं पर लेखक के हस्ताक्षर 'EJS' के रूप में थे। लीडिया एविलोवा के संस्मरणों का हिन्दी अनुवाद 'हंस' में पढ़ चुका था। उक्त जीवनी को पढ़कर दूसरी छवि उभरी। शंका समाधान के लिए कुछ और सामग्री ढूँढ़नी शुरू की। संयोग से कृष्णमोहन सिंह के पास प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को द्वारा प्रकाशित 'अंतोन चेखव एंड हिज टाइम्स' अंग्रेजी में थी। उन्होंने उदारतापूर्वक किताब दे दी। उनसे मित्रता की याद के बतौर किताब अब भी मेरे पास है।

जे.एन.यू. की परिचिता और दोस्त प्रणय कृष्ण की पत्नी शुभ्रा रूसी भाषा की जानकार थीं। उनसे भी परामर्श किया। नाटककार राजेश कुमार तब शाहजहांपुर में थे। उनसे चेखव का नाटकों का संग्रह मिला जिसकी भूमिका राजेन्द्र यादव ने लिखी थी। 'एक काल्पनिक इंटरव्यू' की सूचना अवधेश प्रधान ने दी। राजेन्द्र यादव को चिट्ठी लिखी तो उन्होंने तत्काल जवाब देकर उन किताबों का नाम बताया जिनमें चेखव पर उनका लेखन संग्रहित था। पुस्तक मेले से किताबें खरीदीं। कथाकार हृदयेश ने कहानियों का संग्रह उपलब्ध कराया। आलोक ने ही पुष्पा भारती की पुस्तक 'शुभागता' से चेखव वाला अंश भेजा। इतनी तैयारी के बाद लिखना शुरू किया तो अनेक पारिवारिक समस्याओं ने आ घेरा।

ये समस्याएँ नितान्त व्यक्तिगत थीं। इनके कारण मुझे दो बार लिखना स्थगित करना पड़ा। बहरहाल, कॉलेज से मुक्ति मिली तो एक दूसरे झंझट में जा पड़ा। महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा ने मुझे कॉलेज से आजाद तो किया लेकिन वहाँ आकर भी राहत नहीं मिली। बस यह हुआ कि बीच में मुम्बई आकर आलोक श्रीवास्तव से मिलने का सुयोग मिला। पहला मसौदा

कुछ खास संतोषजनक नहीं लगा। वापस आकर संस्मरणों में से गोर्की और ओल्गा के संस्मरणों का अनुवाद किया परिशिष्ट के लिए। इससे भी जीवनी के सम्बन्ध में मेरी धारणा पुष्ट हुई। वहीं निर्मल वर्मा का लेख चेखव की चिट्ठियों के बारे में पढ़ा। मसौदे में कुछ संशोधन किए। तब तक विश्वविद्यालय छोड़ने की नौबत आ गई।

दिल्ली आया तो शुरू में व्यस्तता रही। बाद में इग्नू में सलाहकार हुआ तो कुछ राहत मिली। फिर कुछ अध्याय लिखे। तब तक सिलचर आने का बानक बन गया। सिलचर में स्थिर होकर पूरी पांडुलिपि देख गया। लेखन पूरा किया। आलोक ने टंकित प्रति भेजी। उसे अवधेश प्रधान को दिखाया। उन्होंने न सिर्फ इसे पढ़ा वरन् अनेक संशोधन खुद किए और कई जगहों पर सुधार के सुझाव दिए। साथ ही तोलस्तोय की जीवनी लिखने का भी सुझाव दिया जो दिमाग में अटका हुआ है।

चेखव पर हिन्दी में जो सामग्री मिली उसमें उनके जीवन को अत्यन्त रंगीत बनाकर पेश किया गया था। मेरे दिमाग में उनके सम्बन्ध में भिन्न किस्म की धारणा बनी थी। 'समयांतर' में लीडिया एविलोवा के संस्मरण पर एक समीक्षा छपी थी सम्भवत: मस्तराम कपूर की। उसे पढ़कर मुझे बल मिला। कुल मिलाकर मेरी धारणा यह थी कि राजेन्द्र यादव ने 'काल्पनिक इंटरव्यू' में और पुष्पा भारती ने चेखव की चटपटी तस्वीर बनाने में लीडिया के संस्मरणों का सहारा लिया है। इसी क्रम में उन्होंने चेखव की जो छवि हिन्दी पाठकों के सामने पेश की वह चेखव की पारगामी आलोचनात्मक नजर को ओझल कर देती थी। नई कहानी ने जिस तरह समस्याओं को मात्र यौन कुंठा के इर्द गिर्द सीमित किया था उस रुचि के अनुकूल ये संस्मरण थे। रूसी जीवनी लेखक लीडिया के संस्मरणों पर बहुत भरोसा नहीं करते। उनके सामने तोलस्तोय और गोर्की की ऊँचाई के कथा लेखक को समझने का कार्यभार होता है। नौकरशाही तब उदित ही हो रही थी और बुर्जुआ संस्कृति का अद्य:पतन दिखाई पड़ रहा था। चेखव के व्यंग्य ने समस्त भारी-भरकम आवरणों को चीरकर छद्म को अनावृत कर दिया था। इसीलिए महज कहानियाँ लिखकर भी उन्होंने महान उपन्यासकारों जैसा सम्मान और यश अर्जित किया। उनकी जीवनी लिखने के लिए मुझे सबसे पहले उनकी छैला छवि से मुक्त होना पड़ा।

माशा और ओल्गा सम्बन्धी उलझनों को समझने के लिए मैंने स्त्रियों की सहजबुद्धि पर भरोस किया। बहुत लोगों से परामर्श किया जिसमें मुख्य रूप मेरी सहायता पत्नी अर्चना ने की। हिन्दी के अकादमिक जगत में उन्हीं पुस्तकों को महत्व दिया जाता है जिनमें सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी गई हो। निवेदन है कि शोध और सृजन को इस तरह अलगाने से हिन्दी पाठक का नुकसान ही होगा। सन्दर्भ सूची होने मात्र से यदि पुस्तक महत्वपूर्ण हो जाए तो 'महाकवि सरल : व्यक्तित्व और कृतित्व' टाइप पुस्तकें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाएँगी। 'निराला की साहित्य साधना' में कोई सन्दर्भ सूची नहीं है। क्या उसे महत्वपूर्ण नहीं माना जाएगा?

प्रकाशकों में अब व्यावसायिकता का अभाव दुर्लभ है। कॉपीराइट ने लेखकों को तो बहुत फायदा पहुँचाया नहीं, प्रकाशक जरूर धन्नासेठ बन बैठे। वे छापी गई और बिकी प्रतियों की मनमानी संख्या बताकर लेखक को नाममात्र की रॉयल्टी देकर छुट्टी पा लेते हैं। झंझट से बचने के लिए सर्वाधिकार भी लेखक को नहीं देते। भय यह होता होगा कि लेखक कहीं सनक में किताबों को कॉपीराइट से आजाद न कर दे। इसलिए कॉपीराइट अपने पास ही/ भी रखा जाने लगा है। होना तो यह चाहिए कि अनुवाद पर भी अनुवादक का अधिकार हो क्योंकि उस विशेष रूप में वह अनुवाद अनुवादक की रचना है। पर शमशेर जी को जिन चीजों का अभाव खला था, वे कहाँ मिलेंगी

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, असम यूनिवर्सिटी, पो. असम यूनिर्वसिटी, सिलचर, असम-788011

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

पुस्तक-वार्ता
संपादक : भारत भारद्वाज
मूल्य : 10/- प्रति अंक

बहुवचन
संपादक : राजेंद्र कुमार
मूल्य : 50/- प्रति अंक

hindi
संपादक : ममता कालिया
मूल्य : 125/- प्रति अंक

पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए सम्पर्क करें :

महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
पो. मानस मंदिर, पंचटीला, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व
E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

वरिष्ठ लेखक : शतायु की कामना

प्रज्ञाचक्षु

जिस हिन्दी समय में आज हम सांस ले रहे हैं, उसी हिन्दीभाषी समाज में लेखक, पाठक, प्राध्यापक, सम्पादक, प्रकाशक के साथ वह अर्धशिक्षित जनता भी रह रही है, जिसके लिए आज साहित्य लिखा जा रहा है। लेकिन दु:ख की बात यह है कि आज हिन्दी समाज इतना अलग-थलग है कि हमें अपने श्रेष्ठ लेखकों की बीमारी की सूचना तो क्या, उनके निधन तक की खबर नहीं मिलती। अंग्रेजी के समाचार पत्र तो जानबूझकर हिन्दी की उपेक्षा करते ही हैं। खुद हिन्दी समाचार पत्र के सम्पादक इस स्थिति पर गौर नहीं करते, ले-देकर यदि साहित्यकार सम्पादक से परिचित हुआ या फिर उनके शहर या प्रांत का हुआ तो उसके निधन की खबर छप जाती है, लेकिन दिल्ली से बाहर जो बड़ा हिन्दी समाज है, वह राजधानी के साहित्यिक मानचित्र पर दूर-दूर तक कहीं नहीं है। सचमुच यह चिन्ता की बात है। लेखक के मरने पर हम शोकसभा करके अपने नैतिक कर्तव्य की खानापूर्ति तो कर लेते हैं, लेकिन उसके जीते-जी घनघोर उपेक्षा से हम उसे मारते रहते हैं।

हमारे जानते आज हिन्दी के लगभग 25 लेखक अस्सी की वय पार कर चुके हैं या करनेवाले हैं–आ. जानकीवल्लभ शास्त्री, श्रीलाल शुक्ल, कृष्णा सोबती, हरिनारायण व्यास (दूसरा सप्तक के कवि, पुणे), चंद्रकिरण सौनरेक्सा, नामवर सिंह, कृष्ण बलदेव वैद, महेंद्र भटनागर (ग्वालियर), महीप सिंह, देवेंद्र इस्सर, विष्णुचंद्र शर्मा, मस्तराम कपूर, भवदेव पांडेय (मिर्जापुर), हृदयेश (शाहजहांपुर), विद्यासागर नौटियाल, शेखर जोशी, राजेंद्र यादव, हरीश भादानी (बीकानेर), कुंवर नारायण, अमरकांत, मार्केण्डेय, सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेक्सरिया हम इनके शतायु होने की शुभकामना करते हैं।

सम्पादक हल्के, पत्रिका भारी

इधर लघु पत्रिकाओं की दुनिया में एक बड़ा परिवर्तन देखने में आया है, कुछ पत्रिकाओं के संपादक ही नहीं बदले हैं, बल्कि कुछ पत्रिकाओं के प्रकाशन का स्थान भी बदल गया है, कुछ अनियतकालीन पत्रिकाएँ दिल्ली सरकार के सौजन्य से मासिक, द्वैमासिक और त्रैमासिक हो गई हैं और कुछ प्रौढ़ और बुजुर्ग सम्पादकों ने पत्रिकाओं के सम्पादन का दायित्व अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दिया है। यदि एक तरफ कई पत्रिकाएँ लगातार विशेषांक-दर-विशेषांक निकालती जा रही हैं, तो दूसरी तरफ 35 वर्षों से ज्ञानरंजन के सम्पादन में निकलनेवाली अनियतकालीन पत्रिका 'पहल' के बंद होने की घोषणा की गई है। 'कवि' के सम्पादक विष्णुचंद्र शर्मा ने 'सर्वनाम' का सम्पादन भार छत्तीसगढ़ में रजतकृष्ण को सौंप दिया है। अनंत कुमार सिंह द्वारा सम्पादित पत्रिका 'जनपथ' मासिक हो गई है। रामकुमार कृषक द्वारा सम्पादित अनियतकालीन पत्रिका 'अलाव' अब द्वैमासिक हो गई है। 41 वर्षों के सम्पादन के बाद त्रैमासिक पत्रिका 'समीक्षा' के सम्पादक डॉ. गोपाल राय सत्यकाम को पत्रिका का सम्पादन दायित्व सौंपकर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पूरा करने के लिए कृतसंकल्प हैं। इसी तरह 'कथन' के सम्पादक रमेश उपाध्याय भी संज्ञा उपाध्याय को सम्पादन का भार सौंपकर हल्के हो गए हैं। हिन्दी मासिक, द्वैमासिक और त्रैमासिक पत्रिकाओं में सम्पादकों की सबसे बड़ी टीम (लगभग एक दर्जन), सम्पादक मंडल अतिरिक्त, के साथ प्रकाशित द्वैमासिक 'परिकथा' ने इधर एक और चमत्कार किया है–डॉ. नामवर सिंह को सलाहकार सम्पादक बनाकर। खबर यह भी है कि ज्ञानरंजन भी इससे जुड़ रहे हैं। यह कैसी विडम्बना है कि एक तरफ संपादक हल्के हो रहे हैं और दूसरी तरफ सम्पादकों के भार से पत्रिका दबी जा रही है, फिर भी अपनी स्वतंत्र पहचान नहीं बना पा रही है।

इलियट ने रिजेक्ट किया था 'एनिमल फार्म' को

पिछले दिनों एक विदेशी समाचार एजेंसी ने एक बड़ा दिलचस्प और सनसनीखेज साहित्यिक तथ्य का उद्घाटन किया। अमेरिका में जन्मे अंग्रेजी कवि टी.एस. इलियट ने, जिन्हें 1948 में नोबेल पुरस्कार मिला, ब्रिटिश प्रकाशक फाबेर एंड फाबेर के लिए काम करते थे, 1944 में जॉर्ज ऑरवेल की पुस्तक 'एनिमल फार्म', जिसे आज अंग्रेजी साहित्य का क्लैसिक माना जाता है, छापने से मना कर दिया था।

ऑरवेल के सामान्य प्रकाशक गोलांज ने शुरू में ही इसे अस्वीकृत कर दिया था। इसके बाद युवा लेखक ने फाबेर एंड फाबेर में

अपनी किस्मत आजमाने की बात सोची, लेकिन यह कहते हुए कि ऑरवेल का दृष्टिकोण साधारणतया ट्राटस्की से प्रभावित है और विश्वसनीय नहीं है, इलियट ने इस पुस्तक को छापने से इनकार कर दिया था।

नहीं लिखेंगे अब मार्खेज

कुछ समय पूर्व लंदन के गार्जियन में एक खबर छपी थी कि लातिनी अमेरिकी साहित्य के शिखर 82 वर्षीय बुजुर्ग लेखक गाब्रियल गार्सिया मार्खेज, जिन्होंने जादुई यथार्थवाद का मार्ग प्रशस्त करते हुए उपन्यासकारों की कई पीढ़ियों को उत्प्रेरित किया, ने पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित अपने उपन्यास 'मेमोयार्स ऑफ माइ मेलनकली भोर्स' के बाद अपने लेखन को विराम दे दिया है। लगभग अर्धशती तक लेखन में सक्रिय इस कोलम्बियन लेखक द्वारा अंतिम रूप से संन्यास लेने के संकल्प से इनके प्रशंसक उदासीन हैं। उनके एजेंट कार्मेन वेसल्स ने चिली के समाचारपत्रों को बताया कि 'मैं नहीं सोचता हूँ कि अब गार्सिया मार्खेज कुछ और लिखेंगे।' उनकी बात की सत्यता इससे प्रमाणित होती है कि उनके जीवनीकार जेराल्ड मार्टिन ने इस बात की पुष्टि की है कि उनके जीवनकाल में शायद ही अब कुछ नया प्रकाशित हो। उल्लेखनीय है कि उनके उपन्यास 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सालिच्यूड' के लिए उन्हें 1982 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला था।

शब्द आँख से टपके

दिवंगत निर्मल वर्मा को उनके 80वें जन्मदिन पर याद करने के लिए 3 अप्रैल, 2009 को इंडिया इंटरनेशनल सेंटर सभागार में आयोजित 'जो शब्द आँख से टपके' विषय पर चौथा निर्मल स्मृति व्याख्यान कार्यक्रम में प्रसिद्ध समालोचक डॉ. नामवर सिंह ने कहा कि निर्मल गद्य के उस छद्म की ओर भी इशारा

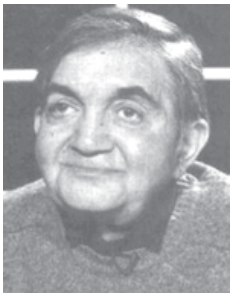

करते हैं जो समझौता-परस्त मध्यवर्गीय चेतना से उत्पन्न होता है। इस प्रसंग में उन्होंने अपने समकालीन कहानीकारों के आक्रोश भरे धुआंधार लेखों को तो निशाना बनाया ही, लेकिन इसके साथ ही 'छद्म अभिजात शालीनता' वाले गद्य को भी नहीं बख्शा। नामवरजी के व्याख्यान पर एक दैनिक समाचार पत्र के अपने स्तम्भ में कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी ने बाद में टिप्पणी की-नामवर जी ने निर्मल वर्मा के गद्य पर एक असावधान और आलसी वक्तव्य दिया, जिसकी जरूरी तैयारी उन्होंने नहीं की थी। हड़बड़ी में दिए गए इस वक्तव्य से उनका बौद्धिक आलस्य और नैतिक शिथिलता दोनों ही जगजाहिर हुए।

देवीशंकर अवस्थी सम्मान

युवा आलोचक प्रणय कृष्ण को उनकी पुस्तक 'उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य' के लिए विगत 05 अप्रैल को वरिष्ठ कथाकार कृष्णा सोबती द्वारा 13वां देवीशंकर अवस्थी सम्मान प्रदान किया गया। उन्होंने कहा कि प्रणय कृष्ण की दृष्टि तार्किक ही नहीं, बल्कि उसमें गहराई भी है। इस अवसर पर देवीशंकर अवस्थी पर उनके आत्मीयजनों के लेखों के संकलन 'आत्मीयता के विविध रंग' का लोकार्पण अजित कुमार ने किया। प्रणय कृष्ण ने अपना वक्तव्य देते हुए कहा कि साम्प्रदायिकता, उपभोक्तावाद आदि ने साहित्य को प्रतिशोध की 'पोजीशन' लेने को मजबूर कर दिया है। सम्मान समारोह में 'साहित्य का दिक्काल' विषय पर आयोजित गोष्ठी में अंग्रेजी के विद्वान जी.के. दास ने उत्तर-आधुनिकता से अपनी असहमति जताते हुए कहा कि आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता में कोई फर्क नहीं है।

इधर थोकभाव से जिस तरह पुरस्कार दिए जा रहे हैं, इनकी विश्वसनीयता संदिग्ध होती है। वैसे भी कोई भी बड़ा लेखक अपने नाम पर दिए गए पुरस्कार से बड़ा नहीं होता, बड़ा होता है वह अपने लेखन से।

वक्त के आईने में

पिछले दिनों लंदन प्रवासी हिन्दी कथाकार तेजेंद्र शर्मा पर केंद्रित पुस्तक 'तेजेंद्र शर्मा : वक्त के आइने में' के लोकार्पण के अवसर पर वरिष्ठ कथाकार कृष्णा सोबती ने कहा कि तेजेंद्र की कहानियाँ बिल्कुल नए रंगों और कायदों से उभरकर आ रही कहानियाँ हैं और कहीं नहीं लगता कि ये हमारी जिन्दगी से अलग कहानियाँ हैं। सुपरिचित आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने तेजेंद्र की कहानी 'कब्र का मुनाफा' का उल्लेख करते हुए कहा कि बाजार के जमाने में मुर्दा या कब्र बेचना कोई खास बात नहीं है। पूँजीवाले लोग किसी भी मजहब को बेच सकते हैं। वरिष्ठ कथाकार राजेंद्र यादव ने विदेशों में रहकर हिन्दी में लिखनेवालों के कच्चेपन का उल्लेख करते हुए कहा कि वहाँ या तो कवि सम्मेलनों में शिरकत करनेवाले किस्म के लेखक हैं या प्रागैतिहासिक कहानियाँ लिखने वाले हैं और हिन्दुत्व के मारे हैं। वैसे 'वक्त के आइने में' तेजेंद्र शर्मा कम, उनके इर्द-गिर्द मंडरानेवाले तथाकथित लेखक और उनके शुभचिंतक ज्यादा नजर आ रहे हैं।

बगदाद से एक खत

कवि एवं सिने मर्मज्ञ महेंद्र मिश्र के कविता संग्रह 'बगदाद से एक खत' के लोकार्पण के अवसर पर 6 मार्च, 2009 को दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में मुख्य अतिथि कवि कुँवर नारायण ने कहा कि भारतीय समाज का अध्ययन रेल से बढ़कर नहीं होता क्योंकि

तीसरे दर्जे में बैठकर इसे महसूस किया जा सकता है। मिश्रजी की इन कविताओं को पढ़कर लगता है कि हम मिश्र जी के साथ एक ही डिब्बे में बैठे सफर कर रहे हों। उनके पास भाषा की अनमोल संपदा है।

रोमिला थापर को क्लूजे पुरस्कार

प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर को मानव अध्ययन में उनके योगदान के लिए यूनाइटेड स्टेट्स लाइब्रेरी ऑफ कांग्रेस के वर्ष 2008 के क्लूजे पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। यह पुरस्कार उन्हें पीटर रॉबर्ट लेनों ब्राउन के साथ संयुक्त रूप से दिया गया है, जो प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी में इतिहास के प्रोफेसर हैं।

खतरे में प्रकाशन

वैश्विक मंदी का असर प्रकाशन जगत पर भी पड़ा है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है दुनिया के सबसे पुराने प्रकाशन गृह कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस के अपने 150 कर्मचारियों को हटाने की योजना। ज्ञात हो कि 425 वर्ष पूर्व हेनरी अष्टम के चार्टर के तहत कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस की स्थापना हुई थी। तब से आज तक इसने विख्यात अंग्रेजी कवि जॉन मिल्टन और वैज्ञानिक आइजक न्यूटन से लेकर कई विशिष्ट विभूतियों की कृतियाँ प्रकाशित की हैं।

इन दिनों

हिन्दी अकादमी, दिल्ली की ओर से आयोजित 'इन दिनों' नामक नई कार्यक्रम शृंखला की पहली कड़ी में 21 अप्रैल को त्रिवेणी सभागार

में वरिष्ठ कथाकार और 'हंस' सम्पादक राजेंद्र यादव ने अपने व्यर्थता-बोध की चर्चा करते हुए प्रश्न उठाया कि क्या हम ऐसी स्थिति में आ गए हैं कि विचार हमारी कोई मदद नहीं करता, क्योंकि भविष्य का कोई सपना हमारे पास नहीं है और अतीत में हम लौटना नहीं चाहते? उन्होंने समाज में ऐसी चीजों से जो बौद्धिक नहीं हैं, भविष्य को देखने की कोशिश पर निराशा व्यक्त की। उन्होंने कहा कि न केवल लिखना ही व्यर्थ लगने लगा है बल्कि पढ़ना भी व्यर्थ लगने लगा है। इस अवसर पर अकादमी के सचिव ज्योतिष जोशी के संपादन में प्रकाशित 'इंद्रप्रस्थ भारती' के नए अंक का लोकार्पण डॉ. नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, राजेंद्र यादव और अर्चना वर्मा ने किया।

कॉपीराइट पर विवाद

के. विक्रम सिंह की पुस्तक 'मकबूल फिदा हुसैन' कॉपीराइट को लेकर कानूनी कटघरे में आ खड़ी हुई है। चूँकि पुस्तक में कॉपीराइट का अधिकार लेखक की जगह प्रकाशक के पास सुरक्षित है, देखकर लेखक ने दिल्ली हाईकोर्ट में प्रकाशक के खिलाफ मुकदमा दायर किया है। उम्मीद की जा सकती है कि जल्द ही के. विक्रम सिंह को न्याय मिलेगा और प्रकाशक अपनी 'भूल-गलती' सुधार लेगा।

युवा रचनाकारों की पुस्तकों का लोकार्पण

भारतीय ज्ञानपीठ ने कुछ गरिमामय परम्पराएँ स्थापित की हैं, इनमें एक है युवा लेखकों को प्रोत्साहित करना। 14 मार्च, 2009 को हिन्दी भवन में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा नवलेखन

पुरस्कार समारोह और 10 युवा रचनाकारों की पुस्तकों के लोकार्पण कार्यक्रम के अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक और नया ज्ञानोदय के सम्पादक, वरिष्ठ कथाकार रवींद्र कालिया ने अपने वक्तव्य में कहा कि हर वर्ष पांडुलिपियाँ आमंत्रित करके निर्णायक मंडल द्वारा अनुशंसित युवा लेखकों को पुरस्कृत किया जाता है। कार्यक्रम के अध्यक्ष वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण ने कहा कि ज्ञानपीठ का यह कदम बहुत महत्वपूर्ण है कि वह विक्रेता का रूप न रखकर हस्तक्षेप की भूमिका निभाए। उन्होंने कहा कि कविता की नींव रोमांटिक होती है जबकि उपन्यास की नींव यथार्थवादी होती है। जीवन का सम्पूर्ण यथार्थ आंशिक रूप से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि जीवन बृहत्तर होता है। कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी ने कहा कि जब ज्ञानपीठ ने मेरा पहला कविता संग्रह छापा, मेरी उम्र 25 वर्ष थी। पहली पुस्तक छपने का मेरे अन्दर रोमानी अनुभव था। चूँकि यह पुस्तक मेरी शादी के दिन यानी 27 जून, 1966 को छपी और यह उपहार मैं रश्मि को देना चाहता था। पहले इसका नाम था 'घास के कपड़े पहनकर', नामवरजी के सुझाव पर इसका शीर्षक बदला 'शहर अब भी संभावना है'। अजित कुमार, कैलाश वाजपेयी और ऋता शुक्ला ने भी अपनी लेखकीय स्मृतियों को ताजा किया।

email : chakshu.pragya@gmail.com

टूटते सपनों की दास्तां

अनंत विजय

एक रचनाकार के तौर पर मृदुला गर्ग आज हिन्दी साहित्य में किसी परिचय की मोहताज नहीं हैं। लगभग चार दशक से वे लेखन में सक्रिय हैं। कहानी और उपन्यास के अलावा पत्र-पत्रिकाओं में भी उन्होंने विपुल लेखन किया है। लेकिन तेरह साल बाद उनका नया उपन्यास 'मिलजुल मन', जिसके कुछ अंश 'अहा! जिन्दगी' में पहले छपे थे, अब सामयिक प्रकाशन, दिल्ली से छपकर आ रहा है। मृदुला गर्ग के दो उपन्यास 'चितकोबरा' और 'कठगुलाब' की साहित्यिक जगत में खासी चर्चा हुई थी और विवादास्पद लेखिका को प्रसिद्धि भी मिली थी। 'चितकोबरा' में जो संवेदनशील स्त्री अपने नीरस जीवन से ऊबकर सेक्स के प्रति असामान्य आकर्षण दिखाती है वह 'कठगुलाब' तक पहुँचकर संवेदना के स्तर पर अधिक प्रौढ़ नजर आती है और इस नए उपन्यास 'मिलजुल मन' में वह स्त्री अपने जीवनानुभव के साथ नए रूप में सामने आती है।

इस उपन्यास 'मिलजुल मन' की नायिका गुलमोहर उर्फ गुल और उसकी सहेली मोगरा है। अपने इस उपन्यास में लेखिका ने आजादी के बाद के दशक में लोगों के मोहभंग के दौर को बेहद शिद्दत के साथ उठाया है। आजादी मिलने पर लोगों के मन में एक सपना था, एक सुनहरे भविष्य की कल्पना थी, बेहतर जीवन प्राप्ति की ललक थी। देश का हर नागरिक खुशहाली की चाह लिए हुए था। युवक-युवतियों के मन में सफल होने की चाहत हिलोरें ले रही थीं। एक खुशनुमा जिंदगी और समाज की उन्नति का सपना देख रहे जिन लोगों ने आजादी की लड़ाई में संघर्ष किया था और आजादी मिलने के साथ पूरे देश ने एक सपना देखा था। इस सपने के टूटने और विश्वास के दरकने की कहानी है मृदुला गर्ग का नया उपन्यास-मिलजुल मन। इस उपन्यास की भूमिका में लेखिका कहती है-दुविधा के अलावा और कई मायनों में अजब था वह वक्त। सदी भर पहले देखा, आजादी का सपना पूरा हुआ था। पर आजादी का जो सुंदर, सजीला, अहिंसक चेहरा हमने ख्यालों में तैयार किया था, मुल्क के तक्सीम होने के साथ, सपने की तरह तड़क कर बिखर गए। सपने के टूटने पर हमने असलियत में जीना कबूल नहीं किया, नया सपना पाल लिया। दुविधा में आ मिला मासूमियत भरा यकीन कि हम गुटनिरपेक्ष और मिलीजुली अर्थव्यवस्था का ऐसा संसार बसाएँगे कि दुनिया हमारा लोहा मानेगी और हम विश्वगुरु कहलाएँगे। तो ये जो आजादी के बाद का मासूमियत और दुविधा के घालमेल से बना सपना था, जो आजादी के बाद कुछ वर्षों तक जनता ने देखा था, टूटकर बिखरने लगा और सपने के इस टूटने और बिखरने को ही लेखिका ने इस उपन्यास का विषय बनाया। लगभग चार सौ पृष्ठों के इस बृहताकार उपन्यास में गुल और मोगरा के बहाने मृदुला गर्ग ने आजादी के बाद के दशकों में लोगों की जिन्दगी और समाज में आनेवाले बदलाव की पड़ताल करने की कोशिश की है। मोगरा के पिता बैजनाथ जैन के अलावा डॉ. कर्णसिंह, मामाजी, बाबा, दादी और कनकलता के चरित्र-चित्रण के बीच गुल बड़ी होती है और इस परिवेश का उसके मन पर जो मनोवैज्ञानिक असर होता है, उसका भी लेखिका ने कथानक में इस्तेमाल किया है।

अपने इस नए उपन्यास में मृदुला गर्ग अपने पात्रों के माध्यम से हिन्दी के लेखकों पर बेहद ही कठोर टिप्पणी करती हैं-तभी हिन्दी के लेखक शराब पीकर फूहड़ मजाक से आगे नहीं बढ़ पाते। मैं सोचा करती थी, लिक्खाड़ हैं, सोच-विचार करनेवाले दानिशमंद। पश्चिम के अदीबों की मानिंद, पीकर गहरी बातें क्यों नहीं करते, अदब की, मिसाइल की, इंसानी सरोकार की। अब समझी वहाँ दावतों में अपनी शराब खुद खरीदने का रिवाज क्यों है। न मुफ्त की पियो और न सहने की ताकत से आगे जाकर

उड़ाओ। अपने यहाँ मुफ्त की पीते हैं और तब तक चढ़ाते हैं जब तक अंदर बैठा फूहड़ मर्द बाहर ना निकल आए। यह लेखिका का प्रिय विषय भी रहा है। हिन्दी लेखकों को बेनकाब करता इनका एक उपन्यास 1984 में पूर्व प्रकाशित हो चुका है, 'मैं और मैं' शीर्षक से, जिसमें एक धूर्त लेखक द्वारा एक नई लेखिका के शोषण को विषय बनाकर महानगरीय परिवेश में लेखक समाज की विकृतियों को उद्घाटित किया था। कहते हैं इस उपन्यास में राजेंद्र यादव थोड़े-थोड़े और योगेश गुप्त पूरे-पूरे हैं।

इसके अलावा इस उपन्यास में गुल के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं–एक लड़की, एक प्रेमिका, एक पत्नी, एक कथाकार को विस्तार से विश्लेषित किया है। हर पहलू का मनोविज्ञान उसके मन में चलने वाले विचार और उसका उसके व्यक्तित्व पर असर सब कुछ लिखा गया है। इस उपन्यास की भाषा में रवानगी तो है लेकिन खालिस उर्दू के शब्दों का ज्यादा प्रयोग भाषा के प्रवाह को गाहे-बगाहे बाधित करता है। इसके अलावा इस उपन्यास की एक बड़ी कमजोरी इसका आकार और घटनाओं का अनावश्यक विस्तार है, जिसे कुशल सम्पादन के जरिए कसा जा सकता था, जिससे न केवल पाठक बँधते बल्कि कथा भी सधती। इस उपन्यास को लेखिका ने जिस बड़े फलक पर उठाया है उसको संभालने में काफी मशक्कत भी की है, श्रमपूर्वक घटनाओं को समेटा है, लेकिन हर घटना को बढ़ाते रहने का लोभ मृदुला गर्ग संवरण नहीं कर पाई है। नतीजा यह हुआ है कि उपन्यास का फलक विस्तृत होता चला गया और पाठक को बार-बार यह एहसास होने लगता है कि कथानक को अनावश्यक विस्तार दिया जा रहा है। घटनाओं के अलावा संवाद भी काफी लम्बे-लम्बे हैं जिससे पाठकों के ऊबने का खतरा है।

मंदी को समझने की कुंजी

पिछले कुछ दिनों से फिर हिन्दी में गैर-साहित्यिक पुस्तकों का तेजी से अनुवाद होना शुरू हुआ है और देश-विदेश के कई लेखकों

पॉल क्रुगमैन

की दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, चिकित्सा, विज्ञान आदि की अनेक स्तरीय पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित हुआ। हिन्दी प्रकाशन में वाणी प्रकाशन ने इसमें नई पहल की है। मौलिक साहित्येतर पुस्तकों के अलावा वाणी प्रकाशन से कई अहम पुस्तकों का अनुवाद छपा है। आज जब पूरा विश्व आर्थिक मंदी के दौर से जूझ रहा है और हर कोई यह जानने की कोशिश कर रहा है कि आखिरकार इस मंदी की वजह क्या है, दुनियाभर के अर्थशास्त्रियों में इस बात को लेकर विवाद जारी है और इसके पीछे की वजह को ढूँढने में विद्वान लगे हैं। हिन्दी के पाठकों के सामने इस मंदी को समझने की बड़ी विकट समस्या है, क्योंकि हिन्दी में इस विषय पर कोई उपयुक्त किताब ही नहीं है। ऐसे में एकदम मौजूं वक्त पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक पॉल क्रुगमैन की पुस्तक 'डिप्रेशन इकनॉमिक्स' का हिन्दी अनुवाद 'मंदी महामंदी' छपकर आनेवाला है। पॉल क्रुगमैन अमेरिकी अर्थशास्त्री हैं, जिनको न्यूयॉर्क टाइम्स के अपने स्तंभ से खासी प्रसिद्धि मिली। राष्ट्रपति बुश के दौर में क्रुगमैन ने अपने स्तंभ में बुश पर इराक और टैक्स रेट में भारी कटौती पर जमकर हमले किए थे। अपने लगभग अकाट्य तर्क और नए सिद्धांत के आधार पर क्रुगमैन ने बुश प्रशासन की नाक में दम कर दिया था। क्रुगमैन ने ही सबसे पहले दो हजार पाँच में आर्थिक मंदी की भविष्यवाणी की थी, जो लगभग तीन सालों बाद सामने आई। लेकिन क्रुगमैन को भी यह नहीं पता था कि इस आर्थिक मंदी का अंत कब होगा। अपने प्रसिद्ध वक्तव्य में क्रुगमैन कहते हैं कि ''जब भी आपको लगता है कि आप इसके खात्मे के करीब पहुँच गए हैं तभी आपके सामने एक इस समस्या का एक नया चेहरा सामने आ जाता है।''

क्रुगमैन की यह किताब रोचक शैली में लिखी गई है, जिसमें आर्थिक मंदी के कारणों का बेहद सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। बेहद प्रभावशाली तरीके से लेखक ने मंदी की आहट को महसूस किया है और जापान, थाइलैंड, मेक्सिको, रूस और ब्राजील का उदाहरण देते हुए अपने सिद्धांतों को सामने रखा है। इस किताब में क्रुगमैन ने नो ग्रोथ, हाई लिक्विडिटी को लिक्विडिटी ट्रैप करार दिया है। उन्होंने अपनी इस किताब में लिक्विडिटी ट्रैप को गणितीय आधार पर सामने रखा है, जिसकी वजह से यह थ्योरी असरदार प्रतीत होती है। कारोबार का तरीका और कारोबार की जगह हमेशा से आर्थिक बहस का आधार रही है। मुक्त व्यापार और वैश्वीकरण का क्या असर हुआ है? और पूरे विश्व में शहरीकरण के पीछे क्या वजह रही, इसके बारे में भी पॉल क्रुगमैन ने एक नई थ्योरी प्रतिपादित की है। क्रुगमैन की यह किताब मंदी को समझने के लिए हिन्दी पाठकों को एक नया विजन देती है। पत्रकार अरविंद मोहन ने बेहद श्रमपूर्वक इसका अनुवाद किया है। अर्थशास्त्र के कठिन शब्दों को जतनपूर्वक सहज और आसान शब्दावली में प्रस्तुत करने के लिए अनुवादक को साधुवाद।

मिलजुल मन/ मृदुला गर्ग/ सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ संभावित मूल्य : 500 रु.

मंदी, महामंदी/ पॉल क्रुगमैन, अनु. अरविंद मोहन/ वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ संभावित प्रकाशन माह : जून, 2009

321बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, (उत्तर प्रदेश)-201014

फिल्म संगीत की वह सुहानी ऋतु

मुकेश कुमार

फिल्म संगीत की ऐसी प्रभावशाली उपस्थिति हमारे जीवन में है कि लगता है मानो फिल्म संगीत हमारे सामाजिक व्यक्तित्व का आईना बन गया है। उसमें हम समाज की विभिन्न छवियाँ देख सकते हैं, उसके सुख-दुख का अंदाजा लगा सकते हैं, उसके सपने पढ़ सकते हैं। ये विवादों से परे है कि हिन्दी फिल्म संगीत जनमानस पर चेतन और अचेतन दोनों ही स्तर पर छाया हुआ है और यहाँ तक कि उसने एक तरह से संगीत के दूसरे प्रकारों को विस्थापित कर दिया है। फिल्म संगीत ने कमोबेश लोकसंगीत का दर्जा हासिल कर लिया है। यही वजह है कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में तो उसकी मौजूदगी और भी सघन है। आनंद हो या अवसाद, हर परिस्थिति में वह हमारे साथ रहता है। हम अपने दैनंदिन जीवन में जब कुछ गाते-गुनगुनाते हैं तो वे फिल्मी गाने ही होते हैं। फिल्म संगीत के खजाने में हर अवसर और हर मूड के लिए फिल्मी गाने हैं और हमें वे ही सूझते भी हैं। फिल्म संगीत का जादू ही कुछ ऐसा है कि एक बार उसकी गिरफ्त में आने के बाद हम उससे निकल नहीं पाते। ताजिंदगी उसके सम्मोहन-पाश में बँधे रहते हैं और उसका आनंद उठाते हैं।

फिल्म संगीत में ये जादुई आकर्षण सहज-स्वाभाविक और अनायास ही नहीं पैदा हो गया। अगर वह समाज के सभी वर्गों में समान रूप से लोकप्रिय हुआ है तो उसके पर्याप्त कारण हैं। वास्तव में फिल्म संगीत के जन-मन में रचने-बसने के पीछे फिल्म संगीत का वह सुनहरा दौर है जिसमें साहित्य और संगीत एक-दूसरे के साथ-साथ चले और उस कालखंड की सर्वोत्तम प्रतिभाओं ने उसे निखारा। एक से एक प्रयोगधर्मी, क्रांतिमना

अनिल विश्वास

और धुनी रचनाकारों ने तमाम कष्ट सहते हुए और हर तरह की चुनौतियों को झेलते हुए ऐसा अभूतपूर्व काम किया कि पूरा सांगीतिक परिदृश्य ही बदल गया। एक पूरी की पूरी पीढ़ी इस परिवर्तन में जुटी हुई थी। वह समय विशेषज्ञताओं का नहीं था। ऐसा नहीं था कि संगीतकारों का साहित्य से नाता न हो और गीतकार संगीत की पर्याप्त समझ न रखते हों। उस जमाने के कलाकार हरफनमौला थे। वे संगीत और साहित्य दोनों में दखल रखते थे और दोनों को बखूबी समझकर रचना करते थे। इसीलिए एक-एक गीत हीरों के हार में जड़ा कीमती मोती जैसा दिखलाई पड़ता है।

फिल्म संगीत के इस सुनहरे दौर को रचनेवालों की सूची में कई हस्तियों के नाम शुमार हैं। ठीक यही समय था जब खेमचंद प्रकाश और गुलाम हैदर जैसे संगीतकार अपनी-अपनी तरह से फिल्म संगीत को गढ़ रहे थे और भविष्य का रोड मैप भी तैयार कर रहे थे। मगर निर्माण के इस दौर के शिल्पियों में एक नाम जो एकदम से उभरकर सामने आता है, वह है संगीतकार अनिल विश्वास का। फिल्म संगीत की नई जमीन तैयार करनेवाले वे सबसे सजग और सक्रिय सर्जक थे। उन्होंने जिस समय पहली बार बंबई की फिल्म इंडस्ट्री में कदम रखा, उस समय फिल्म संगीत मराठी रंगमंच और भक्ति संगीत के व्याकरण का ही अनुसरण करता था। उसकी अपनी अलग से कोई विशिष्ट पहचान नहीं थी। लेकिन बहुत से संगीतकार इसमें घुटन महसूस करते रहे थे और अपनी-अपनी तरह से इस चौहद्दी को तोड़ने की कोशिश कर रहे थे, मगर वास्तविक सफलता हासिल की अनिल विश्वास ने। उन्होंने फिल्म संगीत को सही मायनों में भारतीय व्यक्तित्व दिया, उसे अखिल भारतीय पहचान दी। उन्होंने नए प्रयोगों से फिल्म संगीत की एक नई धारा बहा दी जो कि बाद में चलकर मुख्यधारा ही बन गई।

अनिल दा के इस महत्व और अवदान को सही मायनों में रेखांकित करती है 'ऋतु आए ऋतु जाए' के नाम से प्रकाशित उनकी जीवनयात्रा। दूरदर्शन से लंबे समय तक जुड़े रह चुके शरद दत्त ने उनकी जीवनी में उनकी संगीत-यात्रा के जो शब्द-चित्र खींचे हैं वे दिलचस्प भी हैं और विश्वसनीय भी। ये जीवनी गवाह है फिल्म संगीत के सुनहरे दौर और उसके एक प्रमुख सहयात्री अनिल विश्वास के योगदान की। फिल्म का शीर्षक उन्होंने अनिल दा के एक बेहद लोकप्रिय गीत 'ऋतु आए ऋतु जाए सखी री, मन के

मीत न आए' से लिया है। उल्लेख करना जरूरी है कि इस पुस्तक को सर्वोत्तम लेखन के लिए राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया है। अच्छी बात यह है कि यह अनिल दा की अधिकृत जीवनी है और उनके साथ कई दौर में चली लंबी बातचीत को आधार बनाकर इसे लिखा गया है इसलिए इसमें फिल्मी गॉसिप या अपुष्ट जानकारियों का खतरा नहीं है।

ऋतु आए, ऋतु जाए को शरद दत्त ने तीन हिस्सों में बाँटा है। पहले भाग में पूर्वी बंगाल के बरिसाल से लेकर कलकत्ता होते हुए बंबई और फिर दिल्ली तक की उनकी जीवन यात्रा को समेटा गया है। दूसरे भाग में अनिल दा की शख्सियत के दूसरे महत्वपूर्ण पहलुओं यानी एक कवि, गीतकार और चिंतक के रूप में उनकी उपस्थिति को प्रस्तुत किया गया है। तीसरा एवं अंतिम खंड उनके कृतित्व का विवरण देता है।

अनिल दा और उनके संगीत को समझने के लिहाज से जीवनी का पहला भाग सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। खासतौर पर उस गाँव का जीवन तथा वह परिवेश जहाँ उन्होंने बचपन गुजारा और संगीत का पहला पाठ भी पढ़ा। अनिल दा को संगीत विरासत में अपनी माँ से मिला। उनकी माँ यामिनी देवी का गला बहुत सुरीला था और वे बहुत मधुर गाती भी थीं। वे स्वयं संगीत रचना भी करती थीं। अनिल दा के पिता अक्सर बाहर रहते थे इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी को संगीत सीखने की छूट दे रखी थी, जिससे घर में संगीत का माहौल भी बना रहता था। छोटे अनिल इस वातावरण से मिल रही हर चीज को हृदयंगम करते चले गए। यहीं उनके संगीत की जीवनबेल फूटी जो बाद में चलकर पेड़ बन गई। विश्वास को संगीत सीखने की इजाजत नहीं थी इसलिए उन्होंने चोरी-छिपे गाना शुरू कर दिया। उनमें एक गुण था और वह यह कि जो भी वह सुन लेते थे वह ज्यों का त्यों गा सकते थे। इसलिए लोग उन्हें श्रुतिधर भी कहते थे। यह गुण उनके बहुत काम आया। उन्होंने जगह-जगह महफिलों में गाना शुरू कर दिया। अनिल दा बताते हैं, ''माँ जब नदी पर नहाने चली जाती थीं, तो मैं उनकी कॉपी निकालकर उसमें से कुछ चीजों की नकल कर लेता था। फिर वही चीजें लोगों को सुनाता, मसलन–साँवरिया कौन वन में बाँसुरी बजाय, जैसा ख्याल और माँ की दूसरी पुरानी चीजें, तो वे ताज्जुब से कहते–ये सब चीजें तो लुप्त हो गई हैं तुम्हें कहाँ से मिलीं। मैं जवाब देता विरासत में मिलीं। तुम्हें क्या। तुम आम खाओ, पेड़ क्यों गिनते हो।'' अनिल दा को बरिसाल में माँ के अलावा दो गुरु और मिले। ये थे बाईजी को संगीत सिखानेवाले कालीप्रसन्न नट और लालमोहन गोस्वामी।

वास्तव में अनिल दा की संगीत यात्रा एक गायक के तौर पर हुई। वे बाद तक गाते भी रहे मगर उनकी पहचान गायक से ज्यादा संगीतकार के रूप में बन गई। सही बात तो यह है कि उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था और किसी एक खाँचे में फिट नहीं बैठता। उनके पास संगीत की अच्छी समझ थी जो बचपन में अपने गाँव बरिसाल में पैदा हुई और कलकत्ता में विकसित होते हुए परिपक्व होती गई। लेकिन इतना कह देने से भी अनिल दा के व्यक्तित्व का पूरा चित्र नहीं बन पाता, क्योंकि वे हृदय से एक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी थे। बचपन में ही वे क्रांतिकारी गतिविधियों में शामिल हो गए थे और कई बार जेल भी गए। क्रांतिकारी गतिविधियों के चलते ही उन्हें बरिसाल से भागकर कलकत्ता आना पड़ा, जहाँ उनके जीवन का दूसरा अध्याय खुलता है। कोलकाता में उनके शुरुआती दिन बहुत ही संघर्ष भरे रहे। यहाँ तक कि एक छोटे से होटल में उन्होंने बर्तन धोने तक का काम किया। लेकिन उनमें गायन की जबर्दस्त प्रतिभा थी और वह छिपी नहीं रह सकती थी। उन्हें अवसर मिलते चले गए और वे आगे बढ़ते चले गए। बरिसाल की तरह वे कोलकाता की महफिलों की भी जान बन गए। हालाँकि वे किसी के भी गंडाबंद शिष्य कभी नहीं बने मगर जहाँ भी उन्हें कुछ सीखने को मिलता वे सीखने से परहेज नहीं करते। यहाँ तक कि वे बदनाम गलियों में बाइयों के कोठों तक भी चले गए। उनमें ग्रहणशीलता भी गजब की थी, जिसकी वजह से कोई भी चीज सीखने में उन्हें वक्त नहीं लगता था। बहरहाल, नीहार नाम की एक वेश्या ही, जिसे उन्होंने बहन बना लिया था, उन्हें रंगमहल थिएटर ले गई जहाँ से उनके जीवन का एक नया रास्ता खुला। वे नाचने, गाने, संगीत रचना करने, लिखने और यहाँ तक कि अभिनय भी करने लगे। रंगमहल में कुछ समय तक काम करने के बाद वे हिन्दुस्तान म्यूजिकल कंपनी से जुड़ गए। इसी के साथ कोलकाता में आने के बाद से शुरू हुआ रोजी-रोटी का संघर्ष खत्म हो गया और एक संगीतकार के तौर पर वे स्थापित होने लगे।

पुस्तक में बरिसाल और कोलकाता तक की जीवनयात्रा के ढेर सारे ऐसे प्रसंगों का विवरण है जो अनिल दा के व्यक्तित्व और कृतित्व के निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। यहीं वे बहुत सारे प्रयोग करके खुद को माँजते हैं और तैयारी करते हैं अगले सफर की, जो हीरेन बोस के साथ बंबई में शुरू होता है। हीरेन बोस उस समय तक एक अच्छे फिल्मकार और संगीतकार के तौर पर अपनी पहचान कायम कर चुके थे। अनिल दा और हीरेन बोस ने मुंबई में एक नए सांगीतिक प्रयोग के साथ कदम रखा। वे मुंबई में कुछ नया करने के इरादे से पहुँचे थे। इसके लिए उन्होंने फिल्म संगीत में आरकेस्ट्रा के प्रयोग करने की ठानी थी और इसके लिए अपने साथ वे चार अन्य कलाकारों को भी लाए थे। लेकिन हीरेन बोस के होने के बावजूद शुरुआत चुनौतियों भरी रही। अनिल दा द्वारा कुमार मूवीटोन के मालिक की पिटाई करने के बाद उनकी पूरी टीम सड़क पर आ गई, लेकिन ईस्टर्न आर्ट में बात बन गई और भारत की बेटी के गानों की रिकॉर्डिंग के साथ ही फिल्मी सफर शुरू हो गया। लेकिन संगीत निर्देशक के रूप में पहली फिल्म धर्म की देवी थी। इस समय उनकी उम्र बीस साल की थी और यह उनकी पहली ही फिल्म थी। इसमें उन्होंने संगीत तो दिया ही, गाने भी गाए और अभिनय भी किया। इसी फिल्म में उन्होंने पार्श्व गायन का पहला प्रयोग एक युगल गीत में किया। डेढ़ साल में कुल आठ फिल्मों में संगीत देने के बाद अनिल विश्वास फिल्मी दुनिया में अपनी पहचान बना चुके थे और अब उनकी अगली उड़ान का वक्त था। वे ईस्टर्न आर्ट से सागर मूवीटोन चले गए जहाँ उनकी दोस्ती महबूब खाँ से हुई।

इसके बाद तो एक से एक हिट फिल्मों का सिलसिला चल पड़ा। 1937 में बनी महबूब खां की फिल्म जागीरदार में उन्होंने संगीत दिया और यह उनके लिए पहली हिट फिल्म भी साबित हुई। इस फिल्म के गाने, वो ही पुराने खेल जगत के, वो ही पुरानी बात, अगर देनी थी हमको हूरो जन्नत तो यहाँ देते, और जिनके नैनों में रहते हैं तारे, आज मेहमां बनेंगे हमारे, बहुत लोकप्रिय हुए।

जागीरदार के बाद महबूब खां और अनिल विश्वास की जोड़ी की हर फिल्म हिट होने लगी। हम तुम और वह, वतन, एक ही रास्ता, औरत, रोटी आदि के गीत लोगों की जबान पर चढ़ गए। लेकिन अहम का टकराव दोनों के बीच आड़े आ गया। अनिल दा के बाम्बे टाकिज में जाने के साथ ही दोनों की दोस्ती का अंत हो गया और उसके बाद दोनों ने फिर कभी साथ काम नहीं किया। लेकिन बाम्बे टाकिज अनिल दा के लिए कई लिहाज से बेहतर कदम साबित हुआ। बकौल अनिल दा, शुरुआत में उन्हें गुटबाजी का सामना करना पड़ा और गीतकार प्रदीप तक ने उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश की मगर उनके एक गाने की धुन बनाकर वे उनका दिल जीतने में कामयाब रहे। प्रदीप का ये गाना था–धीरे, धीरे आ रे बादल, धीरे धीरे जा, मेरा बुलबुल सो रहा है शोरगुल न मचा....। ये गाना मात्र सात मात्राओं का था और सिचुएशन के अनुरूप भी नहीं था। अनिल दा ने इसे आठ मात्राओं में तब्दील करके प्रदीपजी को चमत्कृत कर दिया। इसके बाद तो दोनों के बीच तालमेल जम गया। दोनों ने मिलकर फिर दूर हटो ऐ दुनिया वालो हिन्दुस्तान हमारा है जैसा मशहूर गीत रचा। बाम्बे टाकिज में ही अनिल दा ने गायक मुकेश को मौका दिया और उनका पहला हिट गाना दिल जलता है तो जलने दे फिल्म 'पहली नजर' के लिए रिकार्ड किया। रिकार्डिंग से जुड़ा वाकया भी बहुत दिलचस्प है। मुकेश का आत्मविश्वास डोल गया था और वे रिकार्डिंग के लिए स्टूडियो आने के बजाय कहीं पीकर पड़े हुए थे। अनिल दा उन्हें न केवल पकड़कर लाए बल्कि एक चांटा भी रसीद कर दिया। इसके बाद रिकार्डिंग हुई और एक ही टेक में ओके हो गया। तलत महमूद को मौका देनेवाले भी अनिल दा थे। उन्होंने ही तलत को कहा था कि वे अपनी मौलिकता को न छोड़ें। लरजती आवाज की वजह से तलत के बारे में यह अफवाह उड़ गई थी कि उनमें आत्मविश्वास की कमी है। तलत का मशहूर गीत सीने में सुलगते हैं अरमा, का संगीत भी अनिल दा ने ही दिया था।

अनिल दा के मुंबई आने के बाद उनकी जिन्दगी महानगरीय जीवन और फिल्मों की व्यावसायिकता में उलझती भी दिखती है। इसी वजह से इस भाग के विवरण भी शायद तथ्यात्मक ज्यादा हैं। मसलन, उन्होंने किस फिल्म के लिए संगीत दिया, किसका हिट हुआ, वे कब किसे छोड़कर कहाँ चले गए आदि। यहाँ यदि अनिल दा के जीवनानुभव और ज्यादा आ पाते तो बेहतर होता। निजी जीवन में आई उथल-पुथल अभिनेत्री आशा लता से विवाह और फिर संबंध-विच्छेद में दिखाई देता है या फिर बाद में गायिका मीना कपूर के साथ सुखी एवं संतुष्ट वैवाहिक संबंधों में। इसके अलावा एक मौका तब आता है जब फिल्म इंडस्ट्री में यह अफवाह फैल गई कि अब उनके पास संगीत नहीं रह गया है और चारों तरफ से वे निराश हो गए थे। बाद में यही निराशा और एक उम्मीद उन्हें दिल्ली ले आई थी। उम्मीद थी, ऑल इंडिया रेडियो में बतौर वृंदवान के निर्देशक के तौर पर काम करना, हालाँकि यह भी संभव नहीं हुआ और वे केवल नौकरी करने के लिए बाध्य हो गए। असल में बरिसाल तथा कोलकाता की महफिलों की सक्रियता और जीवंतता मुंबई आते ही मानो काफूर हो गई। मगर, हाँ, इतना जरूर है कि जीवन की आपाधापी में उन्होंने संगीत और सामाजिक सरोकारों को लेकर अपनी प्रतिबद्धता कभी भी कम नहीं होने दी। इसीलिए जब भी उन्हें मौका मिलता वे अपने साम्यवादी विचारों के लिए जगह निकालने में जुट जाते थे। महबूब खां को रोटी फिल्म बनाने का आयडिया उन्होंने ही दिया था। उन्होंने जब वैरायटी प्रोडक्शंस के नाम से अपनी फिल्म कंपनी बनाई तो वहाँ भी यही कोशिश की। उन्हें इसी में सबसे ज्यादा सुख भी मिलता था और संतोष भी। इसीलिए जब ख्वाजा अहमद अब्बास सरीखे फिल्म निर्देशकों के साथ काम करने का मौका मिला तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा।

अनिल दा की जीवनी के आखिरी दो भागों का संबंध जानकारियों से ज्यादा है, मगर ये जानकारियाँ भी यह जानने के लिहाज से महत्वपूर्ण हैं कि वे कितने बड़े कलाकार थे और उनकी रचनात्मक प्रतिभा का क्षेत्र कितना विस्तृत था। भारतीय शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत का उन्होंने फिल्म संगीत में यथेष्ट उपयोग किया है और इससे हम सब परिचित हैं। आरकेस्ट्रा के प्रयोग की जानकारी भी हमें है मगर बैले संगीत पर भी उल्लेखनीय काम किया है इसका पता बहुत लोगों को नहीं है। अनिल दा एक कवि, गीतकार और ग़ज़ल मर्मज्ञ भी थे। ग़ज़ल से उनका प्रेम और उसकी समझ का अंदाजा तो इसी से लगाया जा सकता है कि उन्होंने उर्दू ग़ज़लों का बांग्ला में अनुवाद किया है।

लगभग तीन दशकों तक फैला अनिल दा का फिल्मी सफर फिल्म इतिहास का भी सबसे चमकीला दौर है और फिल्म संगीत का भी। इस दौर पर उनकी अमिट छाप मौजूद है और वह हमेशा कायम रहेगी। हम सब उनके ऋणी हैं और ऋतु आए ऋतु जाए भी दरअसल उस ऋण से उऋण होने का एक प्रयास है, एक महत्वपूर्ण प्रयास।

ऋतु आए, ऋतु जाए/ शरद दत्त/ सारांश प्रकाशन, 142ई, पॉकेट IV, मयूर विहार, दिल्ली-110091/ मूल्य : 500 रु.

एस.आर.सी. 27बी, शिप्रा रिवेरा, इंदिरापुरम, गाजियाबाद